राधास्वामी योग

तृतीय भाग

(उर्दू पुस्तक का अनुवाद)

लेखक—

दाता दयाल महर्षि शिवव्रतलाल जी महाराज

वर्मन एम० ए०

—:०:—

सम्पादक—

नन्द् भाई

निज़ामाबाद (दक्षिण)

—:०:—

अ० सहायक सम्पादक

देवीचरन मीतल

लेखराजनगर, अलीगढ़

—❀—

प्रथम बार सं० शाका १८८०

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य १)

विषय सूची

विषय			पृष्ठ
३६ वाँ बचन (आसन उपासन) हमदर्दी (सहानुभूति) की आवश्यकता			६
४०	,,	गुरु की उपासना	१०
४१	,,	गुरु की पहिचान	१३
४२	,,	गुरु की सेवा	१८
४३	,,	षट कर्म सेवा (लगातार)	२३
४४	,,	[illegible] की सेवा ,,	२४
४५	,,	,, ,, ,, ,, ,,	२८
४६	,,	गुरु कहते किसको हैं ?	३१
४७	,,	निस्स्वार्थपना (बेगरजी)	३२
४८	,,	कर्म का त्याग	३४
४९	,,	गुरु के पास किस प्रकार जाँय ?	३७
५०	,,	वियोग (विछोह) और योग (मिलाप)	४१
५१	,,	एक दृष्टान्त	४३
५२	,,	अपना आप	४४
५३	,,	गुरु भक्ति	४७
५४	,,	दो मार्ग	५०
५५	,,	गुरु मुखता	५१
५६	,,	,, ,, ,, (लगातार)	५६
५७	,,	गुरु मुख और मन मुख की चाल	५६
५८ वाँ बचन शरणागत और मौज (भगवत् इच्छा) का मार्ग			६१
५९	,,	मौज का एक दृष्टान्त	६६
६०	,,	मौज की व्याख्या	६९
६१	,,	लालची मनुष्य	७२
६२	,,	शरणागत और मौज पर निर्भर रहने की व्याख्या	७६
६३	,,	निष्ठा	७७
६४	,,	एक की भक्ति	८०
६५	,,	एक गुरु	८२
६६	,,	समय का संत सतगुरु	८३
६७	,,	समय के संत सत-गुरुओं में से दो एक का संक्षिप्त संकेत	८९
६८	,,	छयासठवें बचन के प्रतिबिम्बित स्थानों का संकेत	९२
६९	,,	विष्णु के अवतार और सतपुरुष के अवतारों में अंतर	९३
७०	,,	समय के संत सतगुरु की महिमा	९६
७१	,,	गुरु धारण करना	९७

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देव महेश्वरः
गुरु साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवेनमः

| वर्ष ४ | शाका सं० १८८० जून १९५८ | तरंग ४ |

सतगुरु स्वरूप

साधो गुरु का रूप लखाऊं,
जो कोई आवे मेरी सभा में गुरु का रूप दिखाऊं ॥
सत रज तम के हद से बाहर, गुरु मूरति दर्शाऊं ॥
निर्गुन सगुन देह नहीं जाके, अद्भुत भेद बताऊं ।
हाड़ माँस नाड़ी नहिं जाके, वाके रूप न नाऊं ॥
सबका सब में सबसे न्यारा, मर्म विचित्र जताऊँ ।
रूप अरूप स्वरूप अनूपा, निराकार ठहराऊँ ॥
राधास्वामी चरण शरण बलिहारी, पल पल गुरु गुन गाऊँ ॥

आवश्यक सूचना

जुलाई व अगस्त मास का अंक कबीर साखी होगा जो लगभग २०० पृष्ठ का होगा। अतः पाठक जुलाई अंक का इन्तजार न करें।

इस अंक की थोड़ी सी कापियां छपवाई जारही हैं अतः प्रेमीजन तुरन्त अपना आर्डर भेज दें अन्यथा फिर मिलना कठिन होगा।

ग्राहक महोदय अपना वार्षिक मूल्य तुरन्त भेजने की कृपा करें।

मैनेजर

धन्यवाद

श्री कृष्ण रैंडी भारत टेलरिंग शौप ऐदलाबाद (हैदराबाद) ने २१) रु० शिव की सहायतार्थ भेजे हैं तथा श्री टी०ए० रामा स्वामी हनमकुन्डा ने नवीन ग्राहक बनाने में सहायता की है अतः आपको धन्यवाद है। आशा है आप भविष्य में भी ऐसी सहायता करते रहेंगे।

मैनेजर

शोक समाचार

श्री ठा० हनुमानसिंह जी (हैदराबाद दक्षिण) यकायक हृदय की गति रुक जाने से इस असार संसार को त्याग कर गये। मालिक उनकी आत्मा को शान्ति दे और उनके परिवार को धैर्य प्रदान करे।

स० सम्पादक

योग साधन की दूसरी विधि

आसन, उपासन

उन्तालीसवाँ बचन

हमदर्दी (सहानुभूति) की आवश्यकता

मनुष्य को दुनियां में हमदर्दी (सहानुभूति) की आवश्यकता है। जिस भाव को हम प्रगट करना चाहते हैं, उसके प्रगट करने के लिये यद्यपि हमदर्दी यथेष्ट शब्द नहीं है किन्तु अन्य यथेष्ठ शब्द न होने के कारण हम उस भाव के प्रगट करने के लिये इसी शब्द को प्रयोग करने के लिये बाध्य हैं।

हम गाते हुए चाहते हैं कि दूसरा व्यक्ति भी उसे सुनकर हर्षित हो और हम को उस व्यक्ति के हर्षित होने से हमारे हृदय की शक्ति, हृदय का साहस और हृदय के उत्साह वर्द्धन का लाभ मिले और यह लाभ हमारे गाने के भाव को अधिक उन्नति दे।

हम नये वस्त्र पहिनते हैं। स्वयं हर्षित होते हैं और इच्छुक रहते हैं कि दूसरे भी हमारे अच्छे वस्त्र देखकर प्रसन्न हों और उनकी प्रसन्नता से हमारी प्रसन्नता बढ़े।

हम कविता कहते हैं। उस कविता को सुनाकर दूसरों से प्रशंसा चाहते हैं ताकि उनकी प्रसंशा हमारी कविता कहने की योग्यता को और बढ़ा दे। इसी तरह और भी समझ लो।

यह मनुष्य के हृदय का प्राकृतिक भाव है जो बचपन से ही प्रगट होना आरम्भ हो जाता है। यह दिखावा अवश्य है किन्तु इसमें बढ़ने, ऊँचा होने और निपुणता की श्रेणियाँ हैं। इस दृष्टि से उसे तुच्छ नहीं समझना चाहिए।

बच्चे मुस्कराते हैं। वे मुस्कराते हुए दूसरों को भी अपनी मुस्कराहट से मुस्कराना चाहते हैं। यदि दूसरे लोग उनकी मुस्कराहट को देखकर मुस्कराना नहीं चाहते तो वे उनकी ओर से उसी समय दृष्टि फेर लेते हैं। फिर उनकी ओर नहीं देखते।

इसका कारण सिवाय इसके और कुछ नहीं है कि वह सहानुभूति (हमदर्दी) के इच्छुक रहते हैं। यह सहानुभूति वस्तुतः पारस्परिक प्रेम, पारस्परिक उपयुक्तता और पारस्परिक अनुकूलता का श्रेष्ठ रूप है। सहानुभूति दो हृदयों में मिल-जुलकर दुगुनी शक्ति प्राप्त कर लेती है और उन्नति करने के नियम को शक्ति देती है जो प्रकृति की माँग है।

जहाँ इस प्रकार की पारस्परिक सहानुभूति रहती है वहाँ उन्नति होती है। जहाँ सहानुभूति नहीं होती वहां उन्नति नहीं होती। जो लोग इस नियम को जानते हैं, वे ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, दोष देखने और दोष निकालने से बचते हैं क्योंकि उनके कारण हृदय के उभरते हुए भाव कुचल जाते हैं, उत्साह नहीं बढ़ता और व्यर्थ में हानि होती है। हाँ, यदि किसी के ख्याल (विचार) अमल (कर्म) और इल्म (ज्ञान) का सुधार करना हो तो सहानुभूति से काम लो। तुम भी खुश और वह भी खुश। यदि यह नहीं कर सकते तो किसी के भावों को कुचलो मत। यह महा पाप है। इससे हिंसा होती है और यह हिंसा महा पाप है।

जिस समय मनुष्य ने अपने आपको मनन, अध्ययन, निरख परख, अनुभव और प्रेम द्वारा आस्तिक बना लिया तो

उसे ऐसे पूर्ण पुरुष की संगत ग्रहण करनी चाहिए जिसका हृदय इस हमदर्दी अर्थात् दया और प्रेम के भावों से परिपूर्ण हो और जो जिज्ञासू के भावों को अपने किये हुये प्रमाण या साक्षी देकर उभारता चले। ऐसे ही पूर्ण पुरुष को गुरु कहते हैं। उसी की संगत में बैठने का नाम आसन और उपासना है और यहाँ से रूहानी (अध्यात्मिक) जीवन का प्रारम्भ होता है।

आसन से अभिप्राय बैठने से है। बैठना इस प्रकार का हो कि मनुष्य शरीर, मन और कानों को पूर्णतया लगा कर सत्संग का लाभ उठाये। मन पर इतना अधिकार प्राप्त कर ले कि बार-बार पहलू (आसन) न बदलता रहे बल्कि मन को ऐसा साध ले कि वह वहाँ जमकर बैठे और तवज्जह या ध्यान को गुरु के बचनों में लगा दे।

ज्ञान अथवा प्रमाण तीन प्रकार का होता है—(१) प्रत्यक्ष प्रमाण—जो इन्द्रियों द्वारा हो (२) अनुमान-प्रमाण—जो मन बुद्धि से सोच विचार कर परिणाम निकाला जाय, (३) शब्द प्रमाण—जो गुरु ने अपने अनुभव से कहा हो।

जो हम देखते, सुनते, स्पर्श करते, चखते और सूँघते हैं वह तो इन्द्रियों का ज्ञान है, जो केवल हमारे अपने शरीर से सम्बन्धित है और इन्हीं इन्द्रियों के ज्ञान के अनुभव पर हम जो सोचते हैं, समझते हैं और सोच समझकर दो को दो से जोड़ करके चार होने के परिणाम पर पहुँचते हैं, वह हमारा मन द्वारा ज्ञान है। पहले को ज्ञान और दूसरे को अनुमान कहते हैं। यह दोनों हमारे ही ज्ञान हैं।

यह दो तरह के ज्ञान विश्वास दिलाने वाले होते हैं; किन्तु जैसे जीवन के व्यवहारिक सम्बन्धों में हम अपने लिये उत्तम पुरुषों की राय की स्वभावतः आवश्यकता समझते हैं उसी तरह

आत्मिक ज्ञान के सम्बन्ध में किसी ऐसे हमदर्द (प्रेमी) महा पुरुष के अनुभव की साक्षी और उनका समर्थन चाहते रहते हैं जो हमारे भाव और विचारों को सुधार के साथ समर्थन करता हुआ अपने प्रमाण देकर हमको पूर्ण विश्वास करादे कि हमारा सोचना समझना गलत नहीं है, वह गुरु है। इस गुरु के अनुभव का नाम शब्द प्रमाण है। ज्ञान, अनुमान और शब्द तीन प्रकार के अनुभव हैं और तीनों ही प्रमाण हैं। इन्द्रियों का ज्ञान ज्ञान प्रमाण है। मन का अनुमान अनुमान प्रमाण है। गुरु की गवाही या शब्द शब्द प्रमाण है।

इन तीनों प्रमाणों का अपना अपना महत्व है और तीनों ही से हमको काम लेना पड़ता है।

बहुत से लोग दुनियां में ऐसे हैं जो केवल दो ही प्रमाण मानते हैं अर्थात इन्द्रियों के ज्ञान को और मन के अनुमान को। उनके मतानुसार दो प्रकार का ज्ञान पर्याप्त है। तीसरे की आवश्यकता वह नहीं समझते मगर यह लोग ग़लती पर हैं।

शब्द प्रमाण की आवश्यकता को तो हमने इसी बचन हमदर्दी के प्रारम्भ में थोड़ा सा वर्णन कर दिया है, किन्तु सम्भव है कोई व्यक्ति उसे पर्याप्त न समझे। इस कारण और भी कुछ कहने की आवश्यकता है।

तुमने जन्म लिया। जन्म लेने का तुम को ज्ञान है। ज्ञान और अनुमान दोनों ही इसको प्रमाणित करते हैं। तुम देखते हो कि मनुष्य जन्म लेते हैं। तुम अनुमान करते हो कि तुमने भी जन्म लिया है किन्तु तुमको यह ज्ञान नहीं है कि तुम कब, किस दिन, किस दशा में और कहाँ उत्पन्न हुए थे। उसके लिये दूसरों की गवाही आवश्यक समझी जाती है। यह वह विशेष बात है कि जहां तुम्हारी दाल प्रारम्भ में नहीं गलती। सम्भव

है कि तुम उन्नतिशील बुद्धि के कारण हिसाब किताब लगाकर और अपनी दशा का अनुमान लगाकर आप ही किसी निश्चित परिणाम पर पहुँच सको; किन्तु इसमें इतनी बड़ी आपत्ति होगी जो वबाल जान समझी जायगी और दृढ़ विश्वास होना कठिन होगा। इसका तो उपाय यही है कि दूसरों की गवाही को मानकर विश्वास को दृढ़ करो और जो कुछ वे कहते हैं उसी को ध्रुवसत्य मान लो। इसमें तुम्हारी हानि ही क्या है? फिर इनकी गवाही को लेकर अपनी ख्याली उधेड़ बुन को काम में लाओ। कोई तुमको इससे नहीं रोकता। हाँ! प्रारम्भ में इस गवाही या साक्षी की आवश्यकता है।

इस प्रकार की गवाही निःस्वार्थ होती है। यह ऐसी बात है कि जो व्यक्ति निस्वार्थ होगा, उसे झूँठ बोलने की आवश्यकता ही नहीं है। वह झूँठ बोलकर लाभ क्या उठायेगा। गुरु की साक्षी इसी प्रकार की निस्स्वार्थ और निष्पक्ष होती है। वह आप्त पुरुष हैं। आप्त पुरुष सर्वदा सच्चे और निस्स्वार्थ होते हैं।

तीन प्रकार के ज्ञान अथवा प्रमाण का महत्व जता दिया गया। कोई बुद्धिमान मनुष्य अब इसको झूँठा नहीं कहेगा।

तुमने पढ़ा लिखा, सोचा विचारा। अब उसके समर्थन की आवश्यकता हुई। उसके लिये गुरु की सेवा में जाओ। उसकी उपासना करो। उसकी सेवा और प्रेम का दम भरो। उससे हमदर्दी का लाभ उठाते हुए अपना काम बनाओ ताकि तुम्हारा ज्ञान निश्चयात्मक हो जाय, उसमें उन्नति हो, उसमें सुधार हो और साथ ही साथ तुम उनकी सहानुभूति से पुष्टि पाकर हार्दिक और मानसिक रूप से शक्तिशाली बन जाओ और आगे के दर्जों की ओर बढ़ो और आत्मिक उन्नति के अधिकार का पूरा पूरा लाभ प्राप्त करो।

यह गुरु की हमदर्दी प्राप्त करने का रहस्य है।

चालीसवाँ बचन

गुरु की उपासना

गु = अंधेरा, रु = चाँदना

गुरु किसे कहते हैं ? जो अंधेरे में चाँदना करे, जो बन्धन से छुटकारा दिलाये, जो श्रवण और मनन को साक्षात्कार या निदिध्यासन तक पहुँचा दे और जो आत्मिक भावनाओं को उभार कर आइडियल, आदर्श या इष्टपद तक पहुंचाने की शक्ति और योग्यता रखता हो, उसी का नाम गुरु है। इसके अतिरिक्त गुरु की और कोई परिभाषा नहीं है।

एक समय की घटना है कि आगरे के सत्संग के मकान में शीशे का ग्लोब रक्खा हुआ था। एक चिड़िया उड़ती हुई आई और ऊपर की ओर से उसमें घुस गई। जब उसने देखा कि निकलने का कोई उपाय नहीं है, वह बेचैन हो गई। इधर उधर जाती रही। पर फड़फड़ाती रही। निकलने की राह नहीं पाई। व्याकुलता और बेचैनी के कारण उसे ऊपर की ओर का ग्लोब का मुँह दिखाई नहीं देता था। रास्ता तो था मगर वह निकल नहीं सकती थी क्योंकि दृष्टि का रुझान नीचे की ओर हो गया है। वह थक गई। ला० राजनरायन साहब (हुजूर महाराज के जामात्र) बैठे हुए थे। उन्होंने इस चिड़िया की दशा देखी। चुपके से उठे। ग्लोब को टेढ़ा कर दिया। रास्ता दिखाई दे गया। उसी रास्ते चिड़िया भागकर फुर से उड़ गई और हुजूर महाराज ने प्रसन्न होकर ला० राजनरायन से कहा, "तुमने इस समय गुरु का काम किया है।" बात सच्ची थी।

बन्धन से छुड़ाना गुरु का काम है। इसी कारण से गुरु

को 'बन्दी छोर' अर्थात् मुक्तिदाता कहते हैं। जिसमें ऐसा गुण या शक्ति मौजूद हो, वह गुरु है। गुरु निस्स्वार्थ होते हैं। वे अपना कोई स्वार्थ भाव चित में नहीं रखते। यही उनकी महानता है। कबीर साहब की बाणी है—

सुख देवें दुख को हरें, दूर करें अपराध।
कहें कबीर वह कब मिलें, परम सनेही साध॥ १॥
मान अपमान न चित धरें, औरन को सन्मान।
जो कोई आशा करे, उपदेशहिं तिहि ज्ञान॥ २॥
साध नदी जल प्रेम रस, तहाँ पर छालूं अंग।
कहें कबीर निर्मल भया, साधू जन के संग॥ ३॥
अलख पुरुष की आरसी, साधू ही की देह।
लखा जो चाहे अलख को, इनमें ही लख लेह॥ ४॥
पारस में और संत में, यही अन्तरो जान।
वह लोहा कंचन करें, यह करलें आप समान॥ ५॥

यदि किसी आदमी को ऐसा गुरु मिल जाये तो फिर उसके भाग्य का क्या कहना है और वह सुगमता से अपना काम बना लेगा और बिना परिश्रम और कष्ट के भवसागर को पार कर लेगा। गुरु की संगत, सेवा और प्रेम के विषय में सार बचन राधास्वामी पद्य के हिदायतनामा में यह वर्णन आया है:—

"जिन लोगों को शौक मिलने मालिक कुल का है और तहकीक़ात मज़हब की मंजूर है कि कौनसा मज़हब सबसे बाला है और तरीका भी उसका बहुत सीधा चाहते हैं, उनके वास्ते यह कलाम कहा जाता है। उनको चाहिये कि कुछ दुनिया की मुहब्बत को कम करें यानी जर और जन और औलाद की चाह तकदीर के हवाले करके अव्वल मुहबत फकीरों की मुकद्दम रक्खें। फकीरों में मुहबत

उस फकीर को करें जो शागिले शुगल सुरतानुलज़कार का हो। या शुगल नसीरा करता हो। यानी अनहद शब्द के मारग को जानता हो। और दृष्टी को साधना जिसने करी हो। और मुरदमक चश्म यानी दोनों तिलों को खींचकर शुगल की मदद से एक किया हो। और आवाज आसमानी सुनकर रूह को चढ़ाता हो। और जो ऐसे फकीर कमयाब हों तो जिक्र कलूब पासुनफास वालों को तलाश करे। उनकी सुहबत से भी सफाई दिल और कमज़ोरी नफस अम्मारह की होगी। और कुछ लज्ज़त अन्दरूनी हासिल होगी। लेकिन जो फायदा कि रूह के चढ़ाने का है वह तो तरीका सुरतानुज़कार ही से हासिल होगा।"

"अब चाहिये कि ऐसे फकीर की खिदमत में जाकर उनसे मुहब्बत पैदा करो। और उनकी खिदमतगुजारी में चुस्त व चालाक रहो। और तन से मन से धन से बहर सूरत उनको अपने ऊपर मेहरबान और मुतवज्जह करलो और दर्शन उनका दिल और दीदे से घटे दो घंटे बराबर करते रहो यानी अपनी आँखों से उनकी आँखों को ताकते रहो और जिस कदर ताकत अपनी देखो पलक से पलक न लगाओ। और इस कसरत को रोज ज्यादा करते रहो जिस रोज और जिस वक्त नज़र मेहरआलूद उनकी तुम पर पड़ेगा उससे सफाई दिल का फौरन होगा। और जब वह मेहर करके अपनी मौज व मर्ज़ी से शगल बाला का उपदेश करें तो रूह तुम्हारी आवाज आसमानी को पकड़ेगी। और मुनासिब है कि तुम भी इस शगल को रोजमर्रा बिना नागा चार बार दो बार जिस कदर फुरसत मिले करते रहो। और जो दिल तुम्हारा क़बूल न करे और वसवसा और ख़दशा और गुनावन वे फायदा उठावे तो फ़रयाद मुर्शिदी के आगे करो। और फिर उसी शगल में मेहनत रक्खो। उनकी तवज्जह और तुम्हारी मेहनत से रोज बरोज तरक्की होगी और जल्दी और इज़्तराब न करना क्योंकि" ताजील कारे शयातीं बुअद आहिस्ता आहिस्ता हासिल होना मुफ़ीद पड़ेगा। और जल्दी

जो कुछ होगा वह क़ायम नहीं रहेगा। और जो मुरशिद रहमान की मदद से होगा वह हमेशा कायम रहेगा।"

यह राधास्वामी मत की उपासना है। उपासना की यह अभी प्रारम्भिक सीढ़ी है। अभी इसकी और सीढ़ियाँ हैं जो धीरे धीरे वर्णन की जायेंगी।

इकतालीसवां वचन

गुरु की पहिचान

हिन्दी में एक प्रसिद्ध कहावत है—"पानी पीजे छानकर गुरु कीजिये जान कर," और यह नियम वास्तव में अमल में लाने के योग्य है।

दुनिया में जिस तरह हर बात की दुकानदारी है वैसे ही मजहब भी उससे खाली नहीं है। अक्सर लोगों ने संतों के मार्ग को जीविका का साधन बना लिया है और भोले भाले लोग जहाँ एक बार उनके जाल में फँसे तो इन्हें इस तरह पट्टी पढ़ा दी जाती है और बुद्धि की आँखों पर ऐसी पट्टी बाँध दी जाती है कि कुछ समय के लिये अथवा जन्मभर के लिये अपनी विवेक शक्ति को व विस्तृत दृष्टि को त्याग कर गुरु ही को अपने गले की जंजीर बना लेते हैं और कट्टर, पक्षपाती और संकीर्ण हृदय होकर संत मत के वास्तविक अभिप्राय से कोसों दूर जा पड़ते हैं। मजहब और गुरु, साधन और अभ्यास मुक्ति के साधन हैं। जब यह स्वयं ही बन्ध और प्रतिबन्ध के रूप बन जाँय तो फिर किसी से छुटकारे की क्या आशा की जाय। कबीर साहब ने ऐसे लोगों को गुरु पशु और

मत पशु कहा है। इस कारण पग पग पर सोचने और समझने की आवश्यकता है।

परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि झूंठी गुरुआई करने वाले हर जगह रहते हैं। सृष्टि की व्यवस्था सचाई पर ही निर्भर है। यहाँ सच्चे भी हुआ करते हैं। यह झूंठे भी उन्हीं सच्चों की नकल करके अपनी जीविका चलाते हैं। जिज्ञासू को विवेक से काम लेने की आवश्यकता है। यदि वह विवेक से काम न लेगा तो सम्भव है कि वह झगड़े और झंझट में पड़ जाय।

गुरु का पहिचानना भी सरल काम नहीं है। यदि बाह्य आचार, आकृति और रंग रूप भी अच्छे हों और कुछ सिद्धि शक्ति भी दिखाई दें तो क्या हुआ। इसमें भी धोखा होता है क्योंकि यह इष्ट पद नहीं है।

सार बचन राधास्वामी गद्य में एक जगह बाणी आती है और वह बिचार करने योग्य है। बचन है:—"सत्गुरु की पहिचान मुश्किल है। जिसने सत्गुरु को पहिचाना वह निर्भय हो गया क्योंकि जिस किसी को दुनिया के हाकिम से पहिचान हो जाती है, वह किसी को ख्याल में नहीं लाता और सत्गुरु जो कुल के मालिक हैं, उनकी पहिचान जिसको आ गई उसको फिर किसी का डर न रहा। यह बात किसी बिरले जीव को हासिल होगी और जीवों का तो यह हाल है कि दुनिया के डर से सतगुरु को छोड़ देते हैं तो फिर सत्गुरु की पहिचान कैसे हो। असल में जीव की ताकत नहीं कि सत्गुरु को पहिचान सके। दुनियाँ के हाकिम हकूमत से सब को डराते हैं और सत्गुरु अपने को प्रगट नहीं करते हैं बल्कि संसार में जीवों की तरह से बर्ताव करते हैं। इस वजह से जिस पर उनकी दया है वही पहिचान सकता है। दूसरे की ताकत नहीं है।"

इस बाणी में कई एक बातें विचारने के योग्य हैं। पहिली बात यह है कि सच्चे फकीरों का जीवन साधारण मनुष्यों की तरह सीधा सादा होता है। दूसरी बात यह है कि वह अपने सत्गुरु होने का विज्ञापन नहीं करते। तीसरी बात यह कि वे किसी को डराते धमकाते नहीं और न सिद्धि शक्ति का भय दिलाते हैं, जहाँ देखो कि ऐसे सामान हैं वहाँ सचाई नहीं ठहरती है।

बड़ी कठिन बात है। लोगों की दृष्टि में यही पहिचान के लक्षण हैं। वह जिसका तड़क भड़क का रहना सहना देखते हैं जो अपनी गुरुआई का विज्ञापन करता है और जो अधिकतर लोगों को शिष्य बनाने का लालच देकर कहता रहता है कि यदि तुम मेरे पास न आओगे तो मैं तुम्हारी हानि करा दूंगा। उसकी ओर सर्वसाधारण का झुकाव होता है। फिर किया क्या जाय। इसके सम्बन्ध में हुजूर महाराज की बाणी है:—

रूप रंग उसका मत देख।
श्रद्धा भाव निशाना पेख॥

अर्थात उसकी बाह्य आकृति रूप रंग पर न जाओ। केवल उसकी श्रद्धा[1] भाव को देखकर उसके विश्वासी बनो मगर क्या यह सुगम है?

बाह्य लक्षणों के पुजारी को तो केवल बाह्य बातों ही का ख्याल रहता है। वह तो उन्हीं पर मरते हैं जिनके पास बहुत से आदमी आते हैं और जिनकी दुकान अच्छी चली हुई है, वह उसी की ओर झुकते हैं। विज्ञापन इस युग की विशेषता है जो अपना विज्ञापन करना जानता है वही सफल होता है। जिसे विज्ञापन करना नहीं आता वह हाथ पर हाथ धरे बैठा

१. श्रद्धा—अर्थात् ईश्वर के पूजनीय होने का विश्वास और उसके अनुसार आचरण।

रहता है। इश्तहार बाजी करने वालों का श्रद्धा भाव स्वयं उसको झूठा सिद्ध करता है, मगर इस पर सोचता कौन है? दुनियाँ भेड़ धसान है। जिधर एक भेड़ गई उधर ही सारी भेड़ें चल दीं। इसका किसी को भी विचार नहीं होता कि वह पहिली भेड़ कुँए में गिर रही है या वह अपने ठीक रास्ते पर चल रही है।

कबीर साहब की बाणी है:—

लालों की नहिं बोरियाँ, हंसों की नहिं पाँत।
सिंहों के लेंहडे नहीं, साध न चलें जमात॥
जौन चाल संसार की, तौन साध की नाहिं।
दंभ चाल करनी करे, साध कहो मत ताहि॥

दुनियाँ में सामाजिक सम्प्रदायों का जोर है। जमात की करामात मशहूर है। अधिकतर साधु जो दुकानदार हैं, सामाजिक बातों की ओर झुककर मनुष्यों को अपनी ओर लाने के उद्देश्य से ऐसे काम करते कराते हैं जो दुनियांदारों को पसन्द हैं। किसी ने धर्मशाला बनाया। किसी ने कुँआं खुदवाया। किसी ने सदाबर्त चलाया। किसी ने पाठशाला की नींव रक्खी। किसी ने अपना तालाब बनाया। यह सब सामाजिक बातें हैं जिनका सम्बन्ध सामाजिक व्यक्तियों या सामाजिक संस्थाओं से है। इससे किसी को इन्कार नहीं हो सकता कि यह परोपकार के सामान हैं और परोपकार करना बहुत अच्छा स्वभाव है मगर इनसे अध्यात्म का असली लाभ हाथ नहीं आता। वह कोई और ही वस्तु है। उसका घर और है।

ऐसी दशा में फिर क्या करना चाहिए। यदि बाहरी बातों को ही कोई मनुष्य आदर्श ठहराता है तो उसके विषय में भी संतों और फकीरों की बाणियाँ हैं। यदि उन्हीं से काम लिया जाय तब भी थोड़ी सी सन्त की पहिचान हो सकती है। पूर्ण

रूप में उसके बारे में निर्णय नहीं किया जा सकता। हुजूर महाराज का कथन है:—

गुरु का निरख आँख अरु माथा।
सत का नूर रहे जिस साथा॥
जब वे घट का हाल सुनावें।
नभ की ओर सुरत मन धावें॥

अभिप्राय यह है कि फकीर या सन्त का चौड़ा माथा और दोष रहित (बेनुक्स) आँख उसके तेज और सौम्यता को प्रकाशित करने वाले लक्षण हैं और उसके उदार हृदय होने के चिन्ह हैं। जिसका माथा चौड़ा होगा वह हृदय का उदार, बुद्धि का तीव्र और साहसी होगा। जिसका माथा संकीर्ण होगा उसका हृदय संकीर्ण, बुद्धि क्षुद्र होगी और कम साहसी होगा। यह मुखाकृति विज्ञान (क्याफ़ा) की बातें हैं। इसी प्रकार आँखों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। चमकीले और बड़े बड़े नेत्र मनुष्य के हृदय की उदारता के प्रमाण हैं। यदि नेत्रों में किसी प्रकार का जन्म से ही दोष होगा तो उससे उदार हृदय होने की आशा रखना अज्ञानता और मूर्खता है। नेत्रों के दोष वालों में शील (मुरौवत) नहीं होता। दोष युक्त नेत्र वाला अधिकतर खेंचातानी करता रहेगा और शान्ति जाती रहेगी। यह बातें मनुष्य के अनुभव की हैं जो सैकड़ों वर्ष से सच्ची चली आती हैं। इसी प्रकार अन्य दोषों का हाल समझ लो। इसकी विशेष व्याख्या करना व्यर्थ है। समझने वाले के लिये इतना ही बहुत है।

दूसरी चौपाई का अर्थ यह है कि जब वे ऊँचे स्थान के विषय में वर्णन करेंगे तो मन और तवज्जह (सुरत) का रुझान स्वयं ऊपर के लोकों की ओर होता जायगा जिसका मतलब तुम्हारे मस्तिष्क से है। प्रभाव युक्त पुरुष की कोई बात प्रभाव

से खाली नहीं होती क्योंकि वह कमाई की हुई होती है और सुरत के जिस स्थान पर उसके मन की बैठक होती है, उस स्थान की बिजली के आनन्द और उत्तेजना से भरे हुए प्रभाव सुनने वालों में भी उत्पन्न हो जाते हैं।

यह दो बाहरी पहिचान हैं।

तीसरी पहिचान उनका निःस्वार्थ जीवन है।

इससे अधिक बातें भी राधास्वामी मत में गुरु की पहिचान के सम्बन्ध में बताई गई हैं मगर उनके झंझट में कोई क्यों पड़े। **सार बचन राधास्वामी पद्य** की वाणी यहाँ दी जाती है:—

गुरु सोई जो शब्द सनेही। शब्द बिना दूसर नहिं सेई॥
शब्द बतावे सो गुरु पूरा। इन चरनन की होजा धूरा॥
और पिछान करो मत कोई। लख अलख न देखो सोई॥
शब्द भेद लेकर तुम उनसे। करो कमाई तुम तन मन से॥

बयालीसवाँ बचन

गुरु की सेवा

गुरु की सेवा राधास्वामी मत का कर्म काण्ड है। कर्म करने वाले के सामने गुरु का इष्ट हर समय सामने रहता है। शरीर के सब अंग गुरु के प्रसाद से पवित्र होते हैं। दर्शन करने के कारण गुरु की मूर्ति हर समय आँखों के सामने रह कर मन में स्थान पाती जाती है। सेवा स्थूल प्रकार की कमाई अवश्य है और यह प्रारम्भिक अवस्था के लोगों के लिये है। प्रारम्भिक अवस्था से यह अभिप्राय है कि जो अभी सूक्ष्म मण्डल में नहीं पहुँचे हैं परन्तु इस सेवा से सरलता से गुरु

की रसायनिक और विद्युत के प्रभावों के अधिकारी होते जायेंगे और वही भाव उनमें दिन बदिन होते जायेंगे।

कहने को तो यह प्रारम्भिक क्रिया है मगर यह अन्तिम भी है। जो आदि है वहीं अन्त भी है। प्रारम्भ में इसकी समझ आनी कठिन है। जब थोड़े अध्यात्म के मरहले तै होंगे तब इस सूक्ष्म बात की समझ आयेगी।

योग की पहिली विधि में जो बातें करने और न करने को कही गई हैं वही यहाँ भी हैं। दूसरों के साथ जो सम्बन्ध हैं उन्हें ढीला करके छोड़ दो और गुरु को मुख्य समझ लो। गुरु को प्रसन्न रखना अहिंसा है और गुरु को अप्रसन्न रखना हिंसा है क्योंकि गुरु का रूप निर्दोष और पवित्र है।

इसी प्रकार और बातों को भी समझ लो। गुरु ही अध्यात्म की नींव है। जिस प्रकार हो सके उनके प्रति श्रद्धा भाव को हृदय में स्थान देते चलो और काम सुगमता से बनता जायगा।

गुरु की सेवा से पवित्रता आयेगी और अपवित्रता स्वयं ही मिट जायगी।

इस शरीर में पांच इन्द्रियां हैं और पाँच ही उनके भोग हैं। पाँच ही से गुरु की बाह्य सेवा होती है। पांच ज्ञान इन्द्रियाँ और पाँच भोग और पांच कर्म का कारण यह है कि इनकी उत्पत्ति पाँच तत्वों से है।

तत्व पाँच हैं —आकाश, वायु, अग्नि, जल पृथ्वी। पाँच तत्वों के सूक्ष्म रूप, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, हैं। पांच ज्ञान इन्द्रियाँ-कान, चर्म, चक्षु, रसना, और नाक हैं। इन पाँचों के पांच ही भोग भी हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध।

गुरु की बाह्य सेवा उनके शरीर की सेवा है। शरीर की सेवा शरीर से की जाती है। जब एक शरीर दूसरे को स्पर्श

करता है तो उसके प्रभाव को ग्रहण करता है जैसे लोहा अग्नि से तपाये जाने पर अग्नि के गुण को अपने अन्दर लेलेता है और वही गर्म लोहा पानी में तर किये जाने के कारण ठंडा हो जाता है और इसी प्रकार समझ लो। इसी प्रकार जो व्यक्ति गुरु की सेवा का लाभ प्राप्त करता है उनके स्वभाव और गुणों का अधिकारी हो जाता है। इस सेवा की व्याख्या हम इस प्रकार करते हैं।

कानों से गुरु के शब्द या बचनों को ध्यान पूर्वक सुनो ताकि यह शब्द उनकी जिभ्या से निकल कर तुम्हारे हृदय में नया जन्म लें। एक ही शब्द कानों के रास्ते प्रवेश होकर दूसरों के हृदय में जन्म धारण करता है। और कुछ न कुछ प्रभाव उसी समय डालता है। किसी ने किसी से कोई कविता सुन ली, याद कर ली और वह उसकी हो गई। पहिले गाने वाले या कहने वाले के प्रभाव को कुछ अंश में अपने साथ लाई। यह उसका नया जन्म है। जिन जिन लोगों के हृदय में उसने स्थान पा लिया है, वही वही हृदय उसके भिन्न-भिन्न शरीर और भिन्न भिन्न योनियाँ हैं।

यदि तुम इसी एक बात को भली प्रकार समझ लो तो तु समझ जाओगे कि एक ही वस्तु किस प्रकार अनन्त योनियो धारण करती है और वह एक होती हुई अनेक का तमाशा दिखाती है। यह एकता और अनेकता का रहस्य है। गुरु के बचनों को विश्वास और शिष्टाचार के साथ सुनो ताकि ज्यों का त्यों उनका प्रभाव तुम्हारे अंदर आ जाय। यदि विश्वास और श्रद्धा के साथ नहीं सुना तो वह घर न कर सकेगा। इस कान से सुना उस कान से निकाल दिया। इससे लाभ ही क्या हुआ। सुना अनसुना बराबर होगया। यह कान की सेवा है।

गुरु के हाथ पाँव दबाओ। पंखा झलो। आवश्यक सेवाओं के सामान उनको अर्पण करो। यह हाथ की सेवा है। छूने से भी रसायनिक प्रभाव आ जाता है जैसे हवा के झकोले अपने साथ गर्मी सर्दी और बीमारी आदि के असर लाते हैं। गुरु के रूप का आँखों से टकटकी बांधकर दर्शन करो ताकि वही रूप तुम्हारे हृदय में बैठ जाय। तुम देखते हो कि चेचक के रोगी को केवल देखने ही से अधिकतर हृदय दूषित होकर रोगी बन जाता है। अच्छा रूप देखकर तुम प्रसन्न हो जाते हो। कुरूप को देखकर अप्रसन्न होते हो। इसका क्या कारण है? इसका वही कारण है जो ऊपर बता दिया गया है। गुरु के ध्यान को पक्का करने के लिये गुरु का बार बार दर्शन करना अनिवार्य्य है। यह आँखों की सेवा है।

चरणामृत, मुखा मृत और हस्तामृत लेना रसना की सेवा है। पानी में यह गुण है कि वह बिजली के प्रभाव को तुरन्त अपने अन्दर ले लेता है। हाथ, पाँव और जिभ्या में विशेष प्रकार का प्रभाव रहता है। इनमें स्वास्थ्यप्रद प्रभाव रहता है। तीनों ही से धार के रूप में यह प्रभाव जारी रहता है। किसी बेचैन आदमी के सिर पर हाथ फेरो। उसे आराम मिलेगा क्योंकि तुम्हारी उँगलियों के पोरुओं से एक प्रकार का सूक्ष्म माद्दा निकलता रहता है जो दिखाई नहीं देता, लेकिन वह कभी अपने विशेष प्रभाव से खाली नहीं रहता है। यों तो वह शरीर से भी निकलता रहता है लेकिन हाथ को लोग अच्छा समझते हैं। इस कारण अनेक शिष्य पहिले चरणामृत, हस्तामृत और मुखामृत पर जोर देते थे। इसी कारण से केवल अपनी अज्ञानता वश लोगों ने राधास्वामी पंथ को झूंठा खिलाने का मार्ग प्रसिद्ध कर दिया। यह कोई लाजिमी शर्त नहीं है और प्रत्येक व्यक्ति को उसकी मजबूरी भी नहीं है। सच्ची बात जो

इसकी जड़ में है बता दी गई।

नाक की सेवा यह है कि जो हार गुरु को पहनाये गये उनको वापस पाने पर उनको सूँघना। फूल में भी प्रभाव को अपने में ले लेने की सूक्ष्म शक्ति है। फल स्वयं इतने सूक्ष्म होते हैं कि सूक्ष्म वस्तु से मिलने पर ताजे हो जाते हैं और इसके प्रतिकूल दशा में उसी समय मुरझा जाते हैं। यह पाँच प्रकार की शारीरिक सेवा है।

शरीर पांच तत्वों से बना हुआ है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी और इन्हीं तत्वों की सूक्ष्म तन्मात्रायें शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध हैं और अपने शरीर को पवित्र और प्रभावशाली बनाने के लिये गुरु की वाणी को सुनना, उनके हाथ पांव दबाना, उनके रूप के दर्शन करना और गुरु के चरणामृत व प्रसाद लेने की प्रथा है।

यह प्रथा सब संसार के मजहबों में किसी न किसी प्रकार मौजूद हैं। हाँ! उनके रूपों में अवश्य अन्तर है। मन्दिरों का प्रसाद और चरणामृत की नींव भी इसी सिद्धान्त पर रखी गई है। तब भी यह कह दिया गया है कि तीन प्रकार की कनिष्ट सेवा का काम कनिष्ट श्रेणी के अधिकारी के लिये है। उत्तम अधिकारी के लिये केवल शब्द सुनने और विश्वास व श्रद्धा के साथ दर्शन करने की आज्ञा है। सम्भव है कि कोई इन बातों को सेवा न कहे। उसकी भी हम लगे हाथों व्याख्या किये देते हैं।

१—गुरु की स्तुति करो, गुरु से प्रश्न करो ताकि वह वचन व संकेतों के द्वारा तुमको उत्तर दें।

२—गुरु के चरणों को हाथ लगाओ।

३—सेवा के उद्देश्य से गुरु के पास जाओ और उनके दर्शन रूपी अमृत का पान करो।

४—उनका खाना पकाओ और खिलाकर प्रसादी लो।

५—उनके लिये पानी भर लाओ, नहलाओ धुलाओ, जल पिलाओ और चरणामृत लो।

६—उनके गले में पहिनाने के लिये फूल चुन लाओ, हार गूंधो पहिनाओ और जो हार वह तुमको देवें उनको पहिन लो और उनको सुंघो ताकि तुम में उनका प्रभाव जम जाय।

अब तो यह सब सेवा के काम हुये या नहीं? सृष्टि के नियमों में हर स्थान पर लेने देने का नियम रहता है। बोलना सुनना, देखना दिखाना, खिलाना खाना, पिलाना पीना, सुंघाना सूंघना, छूना छुआना, एक ही क्रिया के दो भिन्न रूप हैं।

विचारों के परस्पर लेने देने और अन्य इसी प्रकार की क्रियाओं को सेवा का नाम दिया गया है।

तेतालीसवाँ बचन

षट कर्म सेवा (लगातार)

पाँच इन्द्रियों की सेवा का वर्णन हो गया है। अब केवल मन की सेवा शेष रह गई है। पाँच इन्द्रियां व मन मिल कर छः होते हैं। इन छः की सेवा के काम को षट कर्म कहते हैं। षट संस्कृत में छः को कहते हैं। मन की शरीर में विशेष स्थिति (हैसियत) है। यही पांचों इन्द्रियों को चलायमान रखता है और चलायमान रखकर उनकी पीठ पर स्वयम् उपस्थित रहता है। इन्द्रियों का काम भी होने को तो मन ही का काम है। बिना मन के मिले हुये कोई काम नहीं हो सकता लेकिन यह सामान्य काम हैं और सामान्य होने के कारण मुख्य नहीं कहलाते। मन का मुख्य काम वह है जिसमें वह इन्द्रियों के

स्थान से बेपरवाह होकर अपने ही में चलायमान रहे। ऐसा भी होता है कि इन्द्रियों के काम में मन का आंशिक भाग मिला रहता है और उस आंशिक सहायता से उनका भी काम हो रहा है और साथ साथ मन भी किसी धुन में लगा हुआ है। उस समय मन के काम की वही स्थिति रहती है जैसे कोई स्वामी अपने सेवकों से काम करा रहा है। स्वामी की उपस्थिति से सेवकों के काम में व्यस्त रहने का क्रम चलता रहता है। यह पाँचों इन्द्रियों के काम की हैसियत है।

इस मन को भी गुरु की सेवा में लगा रखना आवश्यक है क्योंकि असली सेवा तो इसी की कहलाती है और जब तक यह षट कर्म अर्थात् पाँच इन्द्रियों व छटे मन से सेवा न की जायगी तब तक सेवा का असली उद्देश्य पूरा न होगा।

चौवालीसवाँ बचन

मन की सेवा (लगातार)

कबीर साहब की वाणी है:—

मन दिया कहिं और ही, तन साधुन के संग।
कहें कबीर कोरी गज़ी, कैसे चढ़सी रंग॥

असली ध्येय तो मन के रंग का है। अगर तन से सेवा की जाती है और मन सम्मिलित नहीं है तो इस सेवा को सेवा कहना भूल है। मन तो मुख्य है और तन गौंड़ है। तन को सेवा में इसी अभिप्राय से लगाया गया था कि मन धीरे धीरे सर्वाङ्ग से सेवा में लगे।

सेवा का उद्देश्य सम्बन्ध उत्पन्न करने से है। सम्बन्ध

जितना गहरा और बलवान होगा उतना ही उसमें अभिमान आयेगा और सम्बन्ध जितना हलका व दुर्बल होगा उतना ही वह कम अभिमानी होगा। अभिमान का अर्थ इस विशेष स्थान पर अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। जब तुमको धन दौलत, महल अटारी और पुत्र कलत्र का अभिमान होता है तब ही तुम उनके रूप बनते हो। संसार के अभिमान को छोड़कर या उसे हलका करके अब गुरु के अभिमान को दृढ़ करना और गुरु का रूप बनना है ताकि शारीरिक और मानसिक भाव हलके होते जायँ और गुरु के व्यक्तित्व का गहरा रंग प्रगट हो और इसी रंग के गहरे करने, करते रहने और कर लेने से जो कुछ गुरु का ज्ञान गुरु की आन्तरिक सम्पत्ति और गुरु में विश्वासनीय अध्यात्म हैं, वह सब तुम में प्रवेश होते जायेंगे। जिस प्रकार तुम किसी व्यक्ति की मित्रता और संग करते हुए उसके स्वभाव व योग्यता को जानकर या अनजाने अपने में पैदा कर लेते हो उसी प्रकार यहाँ गुरु के मेल, गुरु के संग, गुरु के प्रेम और गुरु में श्रद्धा विश्वास से अपने आपको उन्हीं जैसा बना सकोगे। इस मेल मिलाप, सेवा संग और प्रेम के दरजे होते हैं और ये दरजे उन सेवा आदि के बने होने से प्राप्त होते हैं।

संग करो यह पहला दर्जा है, सेवा करो यह दूसरा दर्जा है, बचन सुनो यह तीसरा दर्जा है, बचन सुनकर उनका मनन करो और उनके मन्तव्य को ग्रहण करो यह चौथा दर्जा है और जितना उनको मनन और ग्रहण करोगे उतने ही तुमको साक्षात्कार प्राप्त होंगे यह पाँचवाँ दर्जा है। इसी प्रकार और आगे समझ लेना चाहिए।

सार बचन राधास्वामी की वाणी है:—

(मन व बुद्धि की सेवा)

दर्शन करे बचन पुनि सुने, फिर सुन सुन नित मन में गुने ॥
गुन गुन छांट लेय उन सारा, सार धार तिस करै अहारा ॥
कर अहार पुष्ट हुआ भाई, जग भय लाज अब गई नसाई ॥
गुरु भक्ति जानो इश्क गुरु का, मन में धंसा सुरत में पक्का ॥
पक पक घट में गाढ़ा थाना, थान गाढ़ अब हुआ दिवाना ॥
गुरु का रूप लगे अस प्यारा, कामिनि पति मीना जल धारा ॥
सत्स'ग करना ऐसा चहिये, सत्संग का फल यही सही है ॥

दोहा

जब सत्गुरु प्रसन्न होंय, देंय नाम का दान ।
दीन होय हिरदे धरे, करे नाम पहिचान ॥

इस मन की सेवा के क्रम में फिर सुरति और निरति की सेवा की बारी आयेगी। सुरति कहते हैं तवज्जह को और निरति कहते हैं शुद्ध व घनी तवज्जह को। यह इनके बीच भेद है। यह दोनों स्थितियाँ मन के परे की अवस्थायें हैं जिनमें मन भी सम्मिलित रहता है। मन बीच की कड़ी है जो नीचे अथवा शारीकि मण्डल में इन्द्रियों के साथ रहता है और ऊँचे मंडल में सुरति व निरति के साथ सम्मिलित रहता है। सुरति में ध्यान का पक्कापन (लय होना) रहता है। सुरति में ध्यान ध्याता और ध्येय का सम्मेलन रहता है। यह ध्यान की त्रिपुटी है। निरति में ध्यान के पक्के हो जाने से उसमें ऐसी बेसुधी और अपनेपन का विस्मरण और समाधिस्थ अवस्था आ जाती है कि फिर तन बदन का किंचित भान नहीं रहता और गुरु का रंग इतना गाढ़ा हो जाता है कि और रंग उस पर नहीं चढ़ सकता।

सुरति कहते हैं ध्यान की क्रिया को और निरति कहते हैं

ध्यान के साधन में नाच रहने को। यदि तुमने बन में जाकर मोर के नाच को देखा है तो इन शब्दों को भली भांति समझ सकोगे। यदि नहीं देखा है तो तनिक कठिनता से समझ आयेगी।

मोर बन में है। तुम इसके पास से निकले। अपने नाच व सुन्दरता दिखाने के अभिप्राय से उसने अपने पर फड़फड़ाये और उन्हें फैला दिया। यहाँ तक तो सुरति की सीमा है और अब वह इसी सुरति का सहारा लेकर नृत्य करने लगा और नृत्य में अपने में से नाचने वाला होने का भाव चला गया और शुद्ध आपा रह गया। यही निरति है। नृत्य संस्कृत में साधारणतः नाचने को कहते हैं। सन्त मत या राधास्वामी मत में वह शुद्ध सुरति कहलाती है जिसमें और किसी ख्याल (ध्यान) का तनिक भी मिश्रण नहीं है।

शब्दों पर कभी न जाओ किन्तु शब्दों के असली अर्थ की ओर ध्यान रखो तभी असलियत की समझ आवेगी और यदि शब्दों पर अड़ते हो तो फिर उसके असली अर्थ को हृदयांगम न कर सकोगे। तुम्हारे पास किसी मित्र का पत्र आता है जो लिफाफे के भीतर है। तुम उसे खोलकर, पढ़कर उसके मन्तव्य को समझते हो या उसी लिफाफे की सुन्दरता को देखते रहते हो? मन्तव्य ही से असली सम्बन्ध है। पत्र के शब्दों की रंगीनी या लिफाफे और पत्र की सुन्दरता से इतना सम्बन्ध नहीं है। यदि मन्तव्य सुन्दर है और उसके साथ लिखावट की सुन्दर शैली और विषय की रोचकताई भी विद्यमान है तो और अच्छी बात है। इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता किन्तु असली वस्तु तो पत्र का मन्तव्य ही है।

इस सुरति की सेवा के सम्बन्ध में वाणी सुनो।

अन्तर मुख बैठे एकान्त, अभ्यास करे पावे मान शान्त ॥
दो दल उलट गगन को धावे, मगन होय और नाद बजावे ॥
जोत देख फिर देखे सूर, चन्द्र निहारे पावे नूर ॥
सत्त लोक पहुँचे और बसे, सुन सुन धुन तब सुरति हंसे ॥
तब सतगुरू की जानो महिमा, जिन परताप बाजी धुन बीना ॥
अलख अगम और मिला अमामी, अब कहुँ धन धन राधास्वामी ॥

चूँकि इन सब दर्जों के वर्णन से आगे के वचनों में विस्तृत रूप से आयेंगे, इस कारण केवल संकेत ही किया जा रहा है।

पैंतालीसवाँ वचन

मन की सेवा (लगातार)

मन का बन्धन केवल जगत का अभिमान है। यह जगत अनेक रूप वाला है। अनेक को दिल देना बेचैनी और अशान्ति मोललेना है। मन तो एक है। इसे मनुष्य कहाँ कहाँ लगाये। जो कुछ हम में अशान्ति है वह केवल अनेक ओर चित लगाने के कारण से है। द्विचिताई में भ्रान्ति रहती है, एकचिताई में निर्भ्रान्ति और शान्ति रहती है। द्विचिताई में द्विविधा होती है। न इधर न उधर। न सर न पैर। न दीन न दुनियाँ। न लोक न परलोक। द्विविधा में दोनों गये माया मिली न राम। इसी कारण से यह निर्देश किया जाता है कि मन को एक ओर और एक में लगाओ तब द्विविधा और द्विचिताई मिटेगी।

मगर प्रश्न तो यह है कि इस मन को किसमें लगावें? क्योंकि दुनियाँ और दुनियाँ के सामान में अवस्थाओं की, आकृतियों की और योग्यताओं की विभिन्नता है। दुनियाँ तो

स्वयं ही अनेकता का रूप है। अनेकता में रुचि होने के स्वभाव का परिणाम यह होता है कि भ्रम और बेचैनी हो जाती है। राधास्वामी मत कहता है कि तुम अपना मन केवल गुरु में लगाओ। मन उस व्यक्ति को देना चाहिए जिसमें काम क्रोधादि न तो राजसिक वृतियाँ हों और न पशुवत वृत्तियाँ ही हों। यदि गुरु को दिल दिया जायगा तो उपरोक्त वृतियों से छुटकारा मिलेगा। दूसरी तरह यह सम्भव नहीं है। यदि स्त्री को दिल देते हो तो वह आसुरी और राजसी वृत्ति होगी और यदि ऐश व आराम का ख्याल करते हो तो वह तामसी वृत्ति होगी। यदि अधोगामिनी वृतियों से सम्बन्ध रखते हो तो पशुता आवेगी। दुनियाँ की सृष्टि में चाहे वह कोई क्यों न हो दोष रहित नहीं है। भाई बन्धु, सरकार दरबार सब में ही दोष है। ये सब के सब चंचल स्वभाव के होते हैं। इनमें से एक भी तो ऐसा नहीं है जो काम क्रोधादि या स्वार्थ से रहित हो। फिर उनके मेल से तुम में भी क्रोधादि और स्वार्थपना आयेगा या नहीं? "जैसी माया वैसी बुद्धि, जैसी संगत वैसी सुधि।" "जैसा सोच वैसा विचार, जैसा ढंग तैसा व्यवहार।" अधिक क्यों कहा जाय, इतना ही पर्याप्त है। मनन करना तुम्हारा काम है। हमारा काम तो केवल ख्याल देने और दिलाने का है।

परम सन्त कबीर साहब इसी विषय को अति स्पष्ट रूप और स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार वर्णन करते हैं।

यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।
शीश दिये जो गुरु मिलें, तौ भी सस्ता जान॥
गुरु से ज्ञान जो लीजिये, सीस दीजिये दान।
बहुतक भोंदू बह गये, राख जीव अभिमान॥
गुरु समान दाता नहीं, याचक शिष्य समान।
चार लोक की सम्पदा, सो गुरु दीन्हीं दान॥

पहिले दाता शिष भया, जिन तन मन अरपा सीस।
पीछे दाता गुरु भये, जिन नाम किया बखशीस॥

सत्त नाम के पटतरे, देने को कछु नाहिं।
कहाँ लग गुरु सन्तोषिये, हवस रही मन माहिं॥
मन दिया जिन सब दिया, मन के संग शरीर।
अब देने को क्या रहा, यों कथ कहें कबीर।
तन मन दिया तो क्या हुआ, निज मन दिया न जाय।
कहें कबीर ता दास सों, कैसे मन पतियाय॥
तन मन दिया आपना, निज मन ता के संग।
कहें कबीर निर्भय भया, सुनु सद्गुरु परसंग॥
निज मन तो नीचा किया, चरन कमल की ठौर।
कहें कबीर गुरु देव बिन, नजर न आवे और।
तनमन दिया तो भल किया, सिर का जासी भार।
जो कबहूँ कह मैं दिया, तो बहुत सहेगा मार॥
तन मन ताको दीजिये, जाके विषया नाहिं।
आपा सब ही डार के, राखे साहब माहिं॥
गुरु की आज्ञा आवई, गुरु की आज्ञा जाय।
कहें कबीर सो सन्त जन, आवागवन नसाय॥
लाख कोस जो गुरु बसें, दीजे सुरत पठाय।
शब्द तुरी असवार होय, छिन आवे छिन जाय॥
गुरु जो बसें बनारसी, शिष्य समुन्दर तीर।
एक पलक बिसरे नहीं, जो गुन होय शरीर॥
गुरु माथे से ऊतरे, शब्द बिहूना होय।
ताको काल घसीटिहैं, रोक न सक्के कोय॥

गुरु को सिर पर राखिये, चलिये आज्ञा माहिं।
कहें कबीर ता दास को, तीन लोक भय नाहिं॥

निज मन राता नाम सों, नजर न आवे दास।
कहें कबीर सो क्यों करे, राम मिलन की आस॥

यह मन की सेवा है।

छयालीसवाँ बचन

गुरु कहते किसको हैं ?

हमने बयालीसवें बचन में गुरु के साधारण पहिचान के सम्बन्ध में कुछ कह तो दिया है परन्तु वह पर्य्याप्त नहीं है। उस पर और भी प्रकाश डालने की आवश्यकता है ताकि जो लोग राधास्वामी मत में सम्मिलित हो गये हैं वह किसी प्रकार के धोके व भ्रम में न पड़ें। दुनिया में सर्वत्र धोके व छल छिद्र का जाल बिछा हुआ है। ऐसा न हो कि मत, मजहब पन्थ और सम्प्रदाय बन्धन के कारण बन जांय नहीं तो मुक्ति कैसे होगी। पन्थ का उद्देश्य मुक्ति दिलाने का है परन्तु जब वही गले का हार और बन्धन की जंजीर बन गया तो फिर उससे अधिक बुरा परिणाम और क्या हो सकता है। इस कारण मनुष्य को उदार हृदय, विशाल दृष्टि और उच्च विचार वाला बनने की अत्यन्त आवश्यकता है। गुरु वास्तविक रूप से किसी मनुष्य विशेष का नाम नहीं है और न शरीर को गुरु कहा जा सकता है। गुरु वस्तुतः अध्यात्मिक आदर्श का नाम है। आदर्श सदा मानसिक होता है। शरीर में बन्धन की हालत है। शरीर किसी भी दशा में शारीरिक दोषों से मुक्त नहीं होता। शरीर दुर्बल, दोषयुक्त और नाशमान है इस दृष्टि से शरीर गुरु समझे जाने के योग्य नहीं है। जो लोग गुरु करते या गुरु में श्रद्धा विश्वास रखते हैं वह

शरीर के ध्यान से ऊंचे रहते हैं। हां! गुरु स्वरूप (जात) को वह अपने विचार ध्यान और विश्वास का केन्द्र बनाकर उसकी सहायता से शनैः शनैः उस मानसिक आदर्श को प्राप्त करने के इच्छुक व प्रयत्नशील रहते हैं जो उनके अपने मन में विद्यमान है और जिसका उनको ज्ञान नहीं है। गुरु के बचन से, गुरु के संग से और गुरु के प्रेम करने से उनके हृदय के पर्दे (आवरण) एक एक करके हटते जाते हैं और तब वह उसी प्यारी गुरु (आदर्श) को अपने ही अन्दर देखने लगते हैं।

गुरु नाम है पूर्ण व पूर्णता का, जिसमें सीमितपना नहीं है। बाहरी गुरु की सहायता और कृपा से उसकी शनैः शनैः समझ आने लगती है।

अभिप्राय भक्ति और ज्ञान का यही है कि मनुष्य पूर्ण हो जाय। पूर्ण ही सच्चिदानन्द है। इस पूर्ण की प्राप्ति एक दम से तो होती नहीं। प्रारम्भ में कोई न कोई आदर्श की मूर्ति बनानी पड़ती है। यही मूर्ति गुरु है। इसी मूर्ति अर्थात गुरु का ध्यान इतना विस्तृत हो जाता है कि उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई देता और वह दृष्टिगोचर होने वाला और दृष्टि में न आने वाला दोनों ही प्रतीत होने लगता है और जितना ही इस प्रतीति में हम मग्न और लीन हो जाते है उतना ही हम पूर्ण होने के अधिकारी बनते हैं।

सैंतालीसवाँ बचन

निस्स्वार्थ पना (बेगरजी)

यदि तुम स्वार्थ रहित काम करने की इच्छा रखते हो तो किसी ऐसे प्राणी से सम्बन्ध जोड़ो कि जिसमें निस्स्वार्थ पना है। स्वार्थी लोगों से मिलकर हम में स्वार्थपने का दोष आ

गया है और हम दिनों दिन स्वार्थी बनते जाते हैं। जिस तरह स्वार्थियों का संग हमको स्वार्थी बनाता है वैसे ही निस्स्वार्थ पुरुष की समीपता का प्रभाव निस्स्वार्थता का गुण उत्पन्न करने लगेगा। निस्स्वार्थता का गुण अपने अन्तर में उत्पन्न करना प्रगट रूप से स्वयम् ही एक स्वार्थ ज्ञात होता है परन्तु चूंकि आदर्श निस्स्वार्थता है इस कारण से उसे स्वार्थ नहीं कहते।

हम हर वस्तु और हर प्राणी के साथ स्वार्थ का प्रश्न करते हैं क्योंकि दुनियां के हर व्यवहार में स्वार्थ है। इसी प्रकार निस्स्वार्थता का प्रश्न करने से जीवन निस्स्वार्थ भी बनता है। सर्वत्र हमको स्वार्थ ही स्वार्थ दृष्टिगोचर होता है, परन्तु जब हम निस्स्वार्थी गुरु की सेवा करने लग जाते हैं तो उनके निस्स्वार्थ भाव आप ही आप उन जैसा बनाने लगते हैं। फिर दृष्टि के बदल जाने से दुनियां के सब दृश्यों में निस्स्वार्थता ही दिखाई देने लगती है। सूर्य, चाँद, सितारे, पानी, वृक्ष आदि सब के सब निस्स्वार्थ रूप से काम करते हुए प्रतीत होते हैं।

गुरु की सेवा में किसी स्वार्थ को सम्मिलित न रखो तब यह गुण अपने आप ही तुम में उत्पन्न हो जायगा।

गुरु से मुक्ति तक की इच्छा न करो नहीं तो वह सम्बन्ध भी निस्स्वार्थ न बना सकेगा। स्वार्थ का प्रश्न अहंकार में है। इस अहंकार को गुरु के ध्यान से मेट देना है। जब अहंकार न रहेगा तुम स्वयं निस्स्वार्थ हो जाओगे और यही निस्स्वार्थता असली मोक्ष और मुक्ति है।

स्वार्थ तो यों ही सर्वत्र सम्मिलित रहता है। कोई ऐसा स्थान भी तो बनाओ कि जहाँ अपना कोई स्वार्थ न रहे। तब उसके ध्यान से ही निस्स्वार्थपना आता जायगा।

सेवा निस्स्वार्थ हो। प्रेम निस्स्वार्थ हो। सम्बन्ध निस्स्वार्थ

हो, तब निस्स्वार्थता के भाव उभरेंगे और जीवन सुखमय होता जायगा। दुनियां में यद्यपि सब प्राकृतिक शक्तियाँ निस्स्वार्थ काम कर रही हैं मगर उनका ध्यान हमको नहीं होता। इसलिये हम ऐसी वस्तु को ढूँढ़ते हैं जो हमारी जैसी शक्ल व सूरत रखती हुई भी निस्स्वार्थता का मूर्तिमान चित्र हो और उसी को हम गुरु कहते हैं।

यह बात प्रारम्भिक अवस्था में हमारी समझ में नहीं आती, आगे चलकर समझ में आवेगी।

निस्स्वार्थता ही की प्राप्ति परमार्थ है और यह परमार्थ मानसिक विकास के दर्जों के दृष्टिकोण से कई श्रेणी का होता है।

तरुवर, सरवर, सन्त जन, चौथे बरसे मेंह।
परमारथ के कारणे, चारों धारें देह॥

अड़तालीसवाँ बचन

कर्म का त्याग

कर्म के छोड़ने को कर्म का त्याग नहीं कहते बल्कि कर्म के फल की कामना न रखना असली तौर पर कर्म का त्याग है और यही असली कर्म काण्ड है।

इस त्याग से हमको सब कुछ मिल जाता है और सब हमारा ही हो जाता है। यही त्याग का अभिप्राय है। खराबी की जड़ कामना में है। कामना ही संकीर्ण और दोषयुक्त बनाती है। जो आस लगाते हैं वही निराश किये जाते हैं। जिसको आस ही नहीं है, उसको निराशता का खटका क्यों होने लगा।

आस आस सब जग बंध्या, रहे उर्द्ध लपटाय।
गुरु आसा पूर्ण करें, सकल आस मिट जाय॥

कामना की जड़ काटना ही त्याग है। जब तक कामना है, मन रूपी पक्षी को ऊँचा नहीं उड़ने देते अर्थात् उसमें उच्च विचार नहीं आते और कामनायें मन रूपी पक्षी के बाल व पंख को बाँधे रखती हैं और उसको संकीर्णता के जाल में फँसाये रखती हैं।

इस कारण पक्षी की तरह दूसरा जन्म धारण करो। पहला जन्म तो आसा के साथ होता है। यह क़ैद (बन्धन) करने वाला अंडा है। दूसरा जन्म भैरवी है जिसमें गति आती है उसकी गति अत्यन्त सुन्दर होती है और वह गति हमको धुरपद की तरफ ले जाती है। आसा, भैरवी और धुरपद यह राग हैं। बहुत सवेरे के समय आसा गाया जाता है और इसकी तह में भैरवी का राग सम्मिलित है। जब यह भी नहीं रहता तो धुरपद की बारी आती है।

राग छः प्रकार के होते हैं और यह छः चक्रों के गति के प्रादुर्भाव हैं। सातवाँ आदर्श है। धुरपद का अभिप्राय आदर्श से है। पक्षी आसा के अंडे में फँसा हुआ रहता है जो सुखदायक अवस्था नहीं है। अन्त में जब वह पर फड़फड़ाता हुआ अंडे को तोड़ देता है, तब खुली जलवायु उसको प्राप्त होती है। यही कारण उसके द्विजन्मा कहलाने का है।

मनुष्य में भी वह मनुष्य द्विजन्मे कहलाते हैं जो आस के अंडे को तोड़कर निष्कामता और निस्स्वार्थता का जीवन व्यतीत करते हैं। दूसरों को द्विजन्मा कहना भूल है।

वह दूसरा जन्म गुरु के पास आकर धारण करना पड़ता है। जिस प्रकार पक्षी अंडे पर बैठकर उसे सेता है और अपनी गर्मी दे देकर इसे योग्य बना देता है कि अंडा टुकड़े

टुकड़े होकर पक्षी को परदार बनाकर ऊँचे उड़ने की योग्यता प्रदान करता है; उसी प्रकार अभ्यास, अनुराग, सत्संग और वचनों के सुनते रहने से कुछ दिनों बाद मनुष्य की आसा का अंडा फूट निकलता है और तब उसे दूसरा जन्म कहते हैं।

अंडा फूटने की वस्तु है। आसा छोड़ने की वस्तु है। अंडा को कौन अच्छा कहता है? क्या वह बन्धन की अवस्था नहीं है? बन्धन की अवस्था किसे रुचिकर है? लड़का अपनी खुशी से घंटों एक जगह बैठा रहेगा परन्तु यदि तुम उसे कह दो कि आधा घंटा यहाँ बैठा रहे तो फिर उसका बैठना कठिन होगा क्योंकि पहली अवस्था स्वतन्त्रता की थी। वह स्वयं ही चाहे घंटों बैठा रहता परन्तु अब कहने से बैठना कठिन प्रतीत होता है क्योंकि बन्धन लगा दिया गया। इसी प्रकार अंडे की दशा है। इसके तो टूटने ही में कुशलता है। इसी प्रकार आशा, कामना और वासना की भी दशा है। यह भी त्यागने योग्य वस्तु हैं। इनके छोड़ने ही में कल्याण है।

यह आशा ही अविद्या का अंडा है। यह ब्रह्माण्ड क्या है? ब्रह्म के अंडे को ही तो ब्रह्माण्ड कहते हैं। अंडे का पक्षी अंधा रहता है। ब्रह्माण्ड में रहता हुआ मनुष्य रूपी पक्षी अज्ञान से आच्छादित रहता है। जब यह अविद्या रूपी ब्रह्म का अंडा टूट जायगा तो फिर स्वतन्त्रता आ जायगी। अज्ञान और अविद्या वासना हैं। वासना अंधेरा है। अन्धेरे में सुझाई नहीं देता है। अंडे को फोड़ो तभी दिखाई देगा। राधास्वामी मत इसी अंडे के फोड़ने की युक्ति बताता है और यही कारण है कि वह ब्रह्म तक के विचार को अपना आदर्श नहीं बनाता क्योंकि इसी ब्रह्म में वासना, अविद्या और अज्ञान का बीज है और तुमने यदि पहले बचनों को थोड़ा भी ध्यान से पढ़ा है तो इसे किसी सीमा तक समझ लोगे। यह अविद्या का बीज सुषुप्ति

में रहता है। यह न समझो कि सुषुप्ति जीव ही में है। ब्रह्म में भी सुषुप्ति है और इसी सुषुप्ति के अभिमान से ब्रह्म का नाम हिरण्यगर्भ अर्थात् सोने का अंडा है। सोने के दो अर्थ हैं। एक स्वप्नावस्था और दूसरा सुवर्ण (कंचन) है। जिसे तुम आराम और सुख कहते हो, यह दोनों सुषुप्ति में हैं। पता नहीं चलता कि सुषुप्ति वस्तु क्या है और किस प्रकार वह रहती है। किन्तु पता क्या चले वह अंडे की हालत है और अंडा प्रकृति की बाँधने वाली युक्ति है। सच्चे गुरु की सेवा और संग के प्रभाव से इसके तोड़ने का गुर हाथ आता है। अब राधास्वामी मत इस गुरु के हाथ आने की कुँजी है।

यह भूलकर न समझो कि सन्त मत कर्म का विरोधी है। नहीं! कभी नहीं!! यदि वह विरोध करता है तो केवल अहंकार-युक्त कर्म का। अहंकार को छोड़ो, आशा का मुँह मोड़ो, फल की कामना न करो। फिर तुम कर्म करो। यह कर्म फिर कर्म न कहलायगा बल्कि त्याग कहलायगा। यह त्याग गुरु भक्ति से मिलता है।

उनचासवां बचन

गुरु के पास किस प्रकार जाँय ?

पहले साधन की विधि तो तुमको बता दी गई। अब इस दूसरी विधि का निर्देश इस प्रकार किया जाता है कि तुम गुरु के पास जाओ; किन्तु जाओ किस प्रकार, इस प्रश्न का भी उत्तर देना आवश्यक है। कई रीति बताई जाती है।

पहली रीति तो यह है कि अन्डे के रूप में जाओ। बंधे हुये, सुकड़े, सिमटे हुये और मानसिक वेगों को रोके हुये

और शिष्टाचार के नियम को हृदयाँकित किये हुये जाओ। यदि यह नहीं हैं तो कुछ भी नहीं है। जो मन पर संयम करके गुरु के पास नहीं जाता उसका आना जाना व्यर्थ है। शक्ति अपने मन के संयम में है उसके असंयम करने में शक्ति नहीं है। सब मनोवेगों को रोक कर गोल गोल अन्डा बनकर गुरु की सेवा में पहुंचो और उनके सम्मुख पड़ रहो। वह अपनी आत्मिक गर्मी देकर अन्डे को फोड़ देंगे और तुम बिहंग अर्थात पक्षी बन जाओगे। इसी को गुरु नानक ने विहंग मार्ग बताया है। अन्डे के फूटते ही तुम ऊँचे उड़ने वाले आकाश में भ्रमण करने वाले हो जाओगे और इस प्रकार फुदकते हुए पर खोलकर उड़ने लगोगे कि काल व कर्म का व्याध (शिकारी) या माया रूपी बहेलिया अपने जाल में तुमको न फँसायेगा।

दूसरी रीति यह है कि तुम मिट्टी के ढेले की तरह गतिहीन होकर पड़ रहो। गुरु कुम्हार की तरह अपने बचन के डंडे से तोड़ फोड़ करेंगे, पीसेंगे और बारीक बनायेंगे और अपनी आत्मिक शान्ति का पानी दे देकर तुमको गूधेंगे और जब तुम में नर्मी, चिकनाई और सूक्ष्मता आ जायगी, वह घड़े के रूप में आप ही बना लेंगे। घड़ा बनाकर वह एक हाथ नीचे देकर दूसरे हाथ से थपथपाते हुए घड़े को सुन्दर, ठोस और काम के योग्य बना लेंगे। धूप में सुखायेंगे और आग में रखकर पक्का कर लेंगे और फिर आवां से निकालकर तुम में अध्यात्म का ठंडा जल भर देंगे और तुम शीतल हो जाओगे। तुम संसार के तीन तापों के दुखों से छूट जाओगे। घड़े को संस्कृत में घट कहते हैं। तुम्हारी मिट्टी लेकर वह तुमको घट योनि अर्थात् अगस्त ऋषि के रूप में बदल देंगे और फिर जितना परमार्थ का जल तुम में भरता जायगा तुमको तृप्ति न होगी। तुम समुद्र सोख हो जाओगे। यह पूर्णता का महत्व है और

पूर्ण बनाना ही इसका उद्देश्य है।

यह बात तुम से अलंकार की भाषा में कही गई है। यह विचारों के प्रगट करने की कवियों की रीति है जिसको हिन्दू पुराणों ने किसी समय बहुत महत्व दे रखा था, किन्तु दुःख तो यह है कि तुमको पद्य के स्थान पर गद्य रुचिकर हो गया है। अलंकार और उपमाओं को नहीं समझते।

तीसरी रीति यह है कि यदि तुम में स्वभाव से ही इन्द्रिय दमन है और तुमने चौसाधन कर लिये हैं। मन शिष्ट आचार और विचार के श्रेणियों से पार हो चुका है तो प्रसन्नता पूर्वक जाओ, उनकी बाणी को सुनो और उनकी बाणी के प्रभाव से प्रभावित होकर योग का साधारण साधन करो ताकि तुम्हारे मन की वृत्ति ब्रह्माकार, परब्रह्माकार और सत्याकार बन जाय। यह कमी रह गई थी। वहाँ जाने से आसानी से पूरी हो जायगी और तुम शीघ्र ही अपने अन्तर में असाधरण परिवर्तन देखोगे।

बिना योग साधन के कोई भी ज्ञानी नहीं हो सकता। केवल चेतन चेतन और ब्रह्म ब्रह्म चिल्ला देने से काम नहीं होता। वाचक ज्ञान से होता क्या है? दो चार पुस्तकें पढ़ लेने से ज्ञानी नहीं बना जाता।

सार बचन राधास्वामी की बाणी है:—

विद्या पढ़ जो करें विचार, बुन्द ज्ञान भी मिला न सार।
सार बुन्द है त्रिकुटी पार, योगेश्वर चढ़ करें विचार॥
प्राण योग कर पहुँचे यहाँ, बुन्द ज्ञान उन पाया वहाँ।
आगे का गुरु मिला न उनको, वहाँ का ज्ञान सुनाया सबको॥
योग बिना विद्या पढ़ कहते, विद्या बुद्धि से तृपित रहते।
यह निपट अहंकार में भूले, इधर न उधर यमपूरी झूले॥

चौथी रीति यह है कि यदि गुरु को गुरु मानने में आपत्ति

है तो न मानो। ऐसे पन्थाई भी हैं जो अपनी पहली टेक छोड़ने के लिये तैयार नहीं हैं, यद्यपि उन सब के ग्रन्थों में गुरु धारण करने का कड़ा आदेश है। मगर इन लोगों ने तो गुरु को कुछ और ही मान लिया है और इस बात को जानते भी हैं कि उनके पन्थ में अब कोई जानकार आध्यात्मिक गुरु नहीं है और यह जानकर भी अपने ऊपर दया नहीं करते और न सच्ची राह में आते हैं। राधास्वामी मत इनको आदेश देता है कि सन्त मत के सब पन्थ एक हैं। नियम एक है और शिक्षा एक है। उनके नियम, शिक्षा और भेद में कोई भी अन्तर नहीं है। हर व्यक्ति सुगमता से बिना किसी सोच विचार के समय के गुरु के पास जाकर लाभ प्राप्त कर सकता है। परन्तु हाँ! यदि पंथ की टेक है तो यह भी सही। इससे इतनी हानि नहीं होती मगर गुरु न धारण करने से हानि होती है। जिसको तुम गुरु बनाते हो यह समझ लो कि वही नानक और कबीर हैं और नानक और कबीर ही ने अब ऐसे रूप में आत्मिक शिक्षा का क्रम जारी कर रक्खा है। इस तरह गुरु धारण करके पंथ की टेक भी रखी जा सकती है। यदि यह भी न हो तो वृद्ध जन, बड़ा भाई या मित्र के रूप में उनसे शिक्षा का लाभ प्राप्त करो। यह भी निष्ठायें हैं परन्तु असली भलाई तो गुरु को गुरु ही के रूप में स्वीकार करने से है।

बाणी है:—(शब्द)

सत्संग करत बहुत दिन बीते, अब तो छोड़ पुरानी बान।
कब तक करे कुटिलता गुरु से, अब तो गुरु को ले पहिचान॥
गुरु को तुम मानुष मत जानो, वह है सत्त पुरुष की जान।
जैसे तैसे मन समझाओ, धर परतीत करो उन ध्यान॥
दया मेहर से बचन सुनावें, वह हैं पूरण पुरुष अमान।
धरी देह मानुष की गुरु ने, ज्यों त्यों तेरा करें कल्याण॥

सेवा कर पूजा कर उनकी, उन ही को गुरु नानक जान ॥
वही कबीर वही सत्त नामा, सब सन्तन को वही पहिचान ।
तेरा काज उन्ही से होगा, मत भटके तू तज अभिमान ॥
चूके मत अवसर अब पाया, बद कर इनसे कोइ न मिलान ।
जो तू अबकी गुरु से चूका, तू भरमेगा चारों खान ॥
फिर ऐसे गुरु मिलें न कबहीं, मान मान तू अबही मान ।
पढ़ पढ़ पोथी गा गा साखी, क्यों मन में तू धरता मान ॥
इसी मान ने ख्वार किया है, यही मान अब करता हान ।
ताते प्यारे कहूँ बुझाई, यह इस्तग़ना भली न जान ॥
जल्दी करो कपट को छोड़ो, श्रद्धा भाव बढ़ाओ आन ।
इतने पर मन कहा न माने, तू फिर अपनी तू ही जान ॥
सिर पर तेरे हुकम काल का, ताते मन तेरा नहीं मान ।
लगा रहेगा संग में गुरु के, सहज सहज शायद मन मान ॥
एक बात जानी हम भाई, है तू बड़का बेईमान ।
राधास्वामी कहें बुझाई, ऐसे जीव होंय हैरान ॥

पचासवाँ बचन

वियोग (बिछोह) और योग (मिलाप)

बिछोह में दुख है, मिलाप में सुख है। वियोग में अज्ञान है, योग में ज्ञान है। वियोग में भ्रम है, योग में निर्भ्रान्ति है। बिछोह में अशान्ति है, मिलाप में शान्ति है। यह बहुत सुगम और छोटी छोटी बातें हैं जिनको साधारण बुद्धि का मनुष्य भी जीवन की हर अवस्था में ठीक और सच्चा स्वीकार करेगा।

जब तक स्त्री अपने पुरुष से नहीं मिलती दुःखी, अज्ञानी और अशान्त बनी रहती है और जब मिलाप होता है सुखी, ज्ञानी और शान्त हो जाती है। इसी प्रकार और समझ लीजिये।

लड़के में ज्ञान नहीं है। विद्या से उसे वियोग रहता है। वह पाठशाला में पढ़ने जाता है। पहले अक्षरों को अलग अलग पाकर घबराता है। फिर जब अक्षरों को मिलाकर शब्द, वाक्य और पंक्तियाँ बनाता है, धीरे धीरे उसका आनन्द बढ़ता जाता है, यहाँ तक कि जब वह विद्या की सब श्रेणियाँ पार कर लेता है। विद्या और विद्या के अभिप्राय को अपने अन्तर में देखता है तब उसकी व्यग्रता, बेचैनी, अज्ञान और अशान्ति दूर हो जाती है। अब विद्या या ज्ञान उससे अलग नहीं रहा। इसलिये उसे आनन्दित तो होना ही चाहिए। ठीक यही दशा हमारी है। जब तक हम अपने आपको दुनियाँ से अलग मान रहे हैं, तब तक हमको दुःख है। जब अपने आपको और अपने आप के आपे को इसमें (दुनियाँ) में देखने लगेंगे, उस समय दुख जाता रहेगा। दुख केवल कुल के अंशों में है, कुल (पूर्ण) में नहीं है।

इस कुल से मिलने के दो रूप हैं। एक तो अपने आपको अलग थलग रखकर मिलाप करना। यह अपूर्ण मिलाप है और दूसरा यह कि अपने आपको इस तरह मिला देना कि नाम के लिये भी अन्तर न रहे यह पूर्ण मिलाप है।

गुरु और चेले का मिलाप भी अपूर्ण और पूर्ण का मिलना है। गुरु आइडियल पूर्ण है। चेला अपूर्ण है। इसको सर्वदा ध्यान में रखना कि यदि गुरु के साथ मिलने में थोड़ा सा भी अन्तर रह गया तो काल रूपी व्याघे के आक्रमणों से मुक्ति न होगी। हाँ! व्यक्तित्व की स्थिति रखने में भी एक भलाई की सूरत है। जैसे समुद्र में मछली रहती है और उसी का रूप बनी हुई आनन्द का भोग करती है, इसी प्रकार नाम के लिये अपने व्यक्तित्व को स्थिर रखकर काम किया जा सकता है परन्तु यहाँ भी कुछ न कुछ अहंकार का मिलान रहेगा। इस-

लिये अच्छा तो यह है कि सर्वाधार की भक्ति इस प्रकार की जाय कि यह अन्तर भी शेष न रहे। यही अमर जीवन का रूप है।'

गुरु की संगत मिलाप (योग) की पहली सीढ़ी है। गुरु के बचन सुनते हुए उनके संग का आनन्द दूसरी सीढ़ी है। यह मछली पानी का दृष्टान्त है और आन्तरिक अभ्यास करते हुए मछली और पानी के एक रूप होने की क्रिया तीसरी सीढ़ी है और जब वह इस प्रकार मिल जाय कि नाम को भी अन्तर न रहे और अन्तर का ज्ञान पूरे रूप से मिट जाय तो यह चौथी अवस्था और चौथा पद है और यही आदर्श है।'

इक्यावनवां बचन

एक दृष्टान्त

पन्द्रह आदमी नदी के पार जा रहे थे। वे गिनती में पन्द्रह थे। जब वे नदी के उस घाट आये तो विचार आया कि गिनती कर लें कि कहीं कोई पानी में डूब तो नहीं गया। एक ने गिनती की कि चौदह तो हैं और पन्द्रहवाँ नहीं है। सब मिलकर शोक मनाने लगे और देर तक रोते रहे। किसी समझदार पुरुष की दृष्टि उन पर पड़ी। पूछा कि तुम क्यों रो रहे हो। उन्होंने कहा कि हम घर से पन्द्रह चले थे। चौदह मौजूद हैं, पन्द्रहवाँ डूब गया। समझदार पुरुष ने कहा कि चिन्ता न करो। पन्द्रहवाँ भी मौजूद है।

इस बात से उनको कुछ सन्तोष मिला। मगर शोक पूर्णतया दूर नहीं हुआ और बेचैनी की अवस्था में फिर प्रश्न करने लगे कि पन्द्रहवाँ कहाँ है ?

---

१. एक फारसी शेर का उल्था:—

सूफ़ी हुआ गुम, नहीं अब उसका मज़हब।
बस यार के मिलन से था उसका मतलब॥

समझदार ने कहा कि मेरे सामने एक एक गिनो। उन्होंने गिना मगर गिनने वाला अपने आपको नहीं गिनता था। बेचैनी और चिन्ता दूर नहीं होती थी।

तब ज्ञानी ने सबको एक पंक्ति में खड़ा करके गिनना प्रारम्भ किया। एक से लेकर पन्द्रह तक गिन गया। उसने कहा कि तुम पन्दरहों के पन्दरह मौजूद हो। कैसे कहते हो कि पन्दरहवाँ खो गया। वह अचम्भे में रह गये। फिर भी संतोष नहीं हुआ। तब उस ज्ञानी ने उनसे कहा कि तुम में से प्रत्येक औरों को तो गिनता है मगर अपने आपको नहीं गिनता। इस कारण से भ्रम है। वे समझ गये। शान्ति मिल गई और खोया हुआ व्यक्ति मिल गया।

यह संसार नदी है। पन्दरह पथिकों में दस कर्म और ज्ञानेन्द्रियाँ है। चार अन्तःकरण मन बुद्धि, चित्त और अहंकार हैं और आत्मा पन्दरहवाँ है। इस भवसागर के इस ओर आकर सब को गिनता है। सब का ज्ञान तो प्राप्त करता है मगर अपना ज्ञान उसे नहीं होता। यही असली बेचैनी का कारण है।

समझदार पुरुष गुरु हैं जो अपनी विवेक की शक्ति देकर ज्ञान देते हैं। तब भ्रम और अशान्ति दूर हो जाती है।

सावनवां बचन

अपना आप

जो कुछ है वह हमारे अपने ही अन्दर है लेकिन दृष्टान्त के पन्द्रहवें आदमी की तरह हम उसे खोया हुआ समझते हैं। गुरु मिलें तब यह भेद बतावें। गुरु जो बतावेंगे वह हमको

हमसे पृथक या आपे को भी हमसे पृथक न बतावेंगे। हाँ, उपाय और क्रियाशैली में पृथकता अवश्य होगी। कोई किसी तरह समझाता है कोई किसी तरह। समझाने के ढंग निराले होते हैं और समझने के ढंग में भी निरालापन होता है। यहाँ भी कोई किसी तरह समझता है कोई किसी तरह।

गुरु केवल ख्याल देते हैं और वह ख्याल उसी तरह दिया जाता है जिस प्रकार छोटे बच्चे को शीशा दिखाया जाता है। बच्चे को दर्पण में एक आदमी दिखाई देता है। बच्चे ने दर्पण देखा। उसने उसमें सचमुच आदमी देखा। दर्पण के आदमी के देखने से उसे सचमुच प्रसन्नता है। बातों पर विश्वास हो गया। फिर बच्चे से कहा गया कि दर्पण का आदमी तुझसे भिन्न नहीं है मगर बाहरमुखी बच्चा इसको अभी तक नहीं समझता। वह प्रश्नोत्तर करने लगता है। समझाने वाले ने चिताया। जब तू दर्पण देखता है तभी तो उसमें आदमी दिखाई देता है। यदि तू न देखे तो कभी उसमें मनुष्य दिखाई न देगा। यह बात अक्षरसः सत्य है लेकिन बच्चा उसे नहीं मानता। वह कैसे माने! वह तो जब दर्पण में देखता है उसे आदमी दीखता है। ऐसा नहीं होता कि दर्पण आदमी से खाली रहे। यह बात उसकी समझ में नहीं आती कि दर्पण का आदमी वह स्वयं ही है। उसने तो अपने आपको दर्पण के आदमी से भिन्न मान रक्खा है। भिन्न मानना ही भ्रम है और इसी का नाम अज्ञान है। अज्ञानी अपने बाल-बच्चे और अपनी सम्पति को अपने से भिन्न जानता है। यद्यपि वह सबका पैदा करने वाला है। यह सब दर्पण के आदमी की तरह उसी के सहारे रहते हैं। उसका अस्तित्व उनके अस्तित्व की नींव है। दर्पण में यह स्वयं ही आदमी को डाल देता है। तब ही तो उसमें आदमी दिखाई देता है। यदि

यह न डाले तो फिर दर्पण में आदमी का होना कठिन है, मगर इस रहस्य को कितने लोग समझ सकते हैं। इसी एक बारीकी के न समझने से तरह तरह के वाद विवाद होते रहते हैं। जितनी बातें की जाती हैं वह भ्रम को और भी बढ़ाती हैं। गुरु की बाणी है—

आप आपको आप पिछानो।
कहा और का नेक न मानो॥

मगर अपने आपको पहिचानना सरल काम नहीं है। दुई देखने का दोष दूर हो तब अपने आप की समझ आवे। गुरु अपने विचित्र ढंग से इस अपने आपकी समझ बूझ देकर शान्ति दिला देते हैं। दर्पण, दर्पण का प्रतिबिम्ब और दर्पण देखने वाला तीन सूरतें हैं। एक ओर दर्पण है, एक ओर दर्पण देखने वाला है और बीच में प्रतिबिम्ब है। गुरु पहिले दर्पण की ओर से आँख मीचने का आदेश करते हैं। केवल बीच के प्रतिबिम्ब के केन्द्र पर आँख जमाने का साधन बताते हैं। त्रिपुटी गई। एक ओर से बेपरवाई हो गई। दर्पण का ख्याल जाता रहा। केवल द्वैत भाव रह गया--आदमी और आदमी का प्रतिबिम्ब।

अब इस प्रतिबिम्ब पर ध्यान लगाने से स्वयं अनुभव द्वारा विचार शक्ति उत्पन्न होगी। आदमी शनैः शनैः स्वयं ही सोचने लगेगा कि मैं जैसी सूरत बनाता हूँ वैसी ही दिखाई देती है। प्रतिबिम्ब का आधार मेरी ही आकृति है। इतने ही सोचने से फिर उसका ध्यान प्रतिबिम्ब से हट जाता है और उसमें अपना विचार उत्पन्न होता है। जितना वह विचार और चिन्तन और विचार और चिन्तन की गहराई या उसमें लीन होने से काम लेगा उतना ही वह अपने आपे की ओर आकर्षित होगा। यह अद्वैत है। तीन गये दो रहे। दो गया अब एक रहा। इस एक

का ख्याल भी धोखे में डालने वाला है क्योंकि जब तक एक की जड़ रहेगी तब तक दो अंखुये अवश्य ही उत्पन्न होते रहेंगे। इसलिये अब इस विचार का भी त्याग होता जायगा; क्योंकि विचार सदा मिलौनी या मिलने और दो पने के दर्जे में होता है। गुरु की वाणी है:—

जहाँ मिलौनी तहाँ विचार। एक एक में कहा विचार॥

इस बाणी का अर्थ स्पष्ट है; वे कहते हैं "कि विचार की गम्य केवल उस जगह होती है जहाँ मिलौनी और द्वन्द पने की मिली जुली रचना होती है। एक में एक का विचार असम्भव है। जहाँ केवल एक है वहां कभी विचार नहीं होता।"

तिरपनवाँ बचन

गुरु भक्ति

जहाँ गुरु भक्ति होती है वहाँ स्वयं साक्षात्कार का अवसर रहता है। जहाँ गुरु भक्ति का अभाव होता है वहाँ साक्षात्कार नहीं होता है। यह सच है कि प्रारम्भ में तुरन्त साक्षात्कार नहीं होता मगर बीज तो मौजूद है। बीज नष्ट नहीं होता। कभी न कभी जब अनुकूल परिस्थिति मिलेगी वह पैदा होकर फल फूल देगी क्योंकि गुरुभक्ति ही वास्तव में असलियत का बीज है। कबीर साहब की बाणी है:—

कबीर गुरु की भक्ति कर, तज विषया रस चौज[1]।
बार बार नहिं पाइये, मानव जन्म की मौज॥
कबीर गुरु की भक्ति कर, धृग जीवन संसार।
धृयें का धौराहरा[2], बिनसत लगे न बार॥

१—स्वाद २—मीनार।

भक्ति कैसी होनी चाहिये ? इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है:—

जल ज्यों प्यारी माछली, लोभी प्यारा दाम।
माता प्यारी बालिका, भक्ति पियारी राम॥
भक्ति प्राण सों होत है, मन दे कीजे भाव।
परमार्थ परतीत में, यह तन जाव तो जाव॥

भक्ति नष्ट होने वाली वस्तु नहीं है। कबीर साहब का कथन है:—

भक्ति बीज बिनशे नहीं, आय पड़े जो भूल[1]।
कंचन जो विष्टा पड़े, घटे न ताको मूल॥

यह भक्ति सरल से सरल है और कठिन से कठिन भी है। यह जीते जी मरने का तरीका है। जो जीते जी मरने का भेद जानते हैं उनके लिये तो यह बड़ी सरल है। यहाँ तक कि इससे सरल कोई भी काम नहीं है और जो जीते जी मरना नहीं चाहते, उनके लिये यह अत्यन्त कठिन मार्ग है। जो व्यक्ति जान पर नहीं खेलता अथवा जो जान जोखम में नहीं पड़ना चाहता उसे भक्ति का नाम भूलकर भी न लेना चाहिये। यों ही भक्ति की हिर्स करने से क्या लाभ !

विद्यार्थी जब अपनी तीव्र इच्छा को विद्या की ओर लगा देता है और लोक परलोक किसी से प्रयोजन नहीं रखता, उस समय उसे विद्या प्राप्त होती है। ज्योतिषी धूप की गर्मी को सहन करता हुआ हाथ में दूरबीन लेकर तारागणों की चाल देखा करता है और अपनी देह का ध्यान तक नहीं रखता, तब जाकर वह ज्योतिषी बनता है। डुबकी लगाने वाला समुद्र की गहराई का भय न करता हुआ जब उसमें कूद पड़ता है तब मोती हाथ

१—देह।

में लाता है। इसी प्रकार हर काम में जीते जी मर मिटना पड़ता है तब सफलता होती है। कोई कार्य्य हो, कोई साधन हो, जब तक दत्त चित्त होने और निमग्न होने का रहस्य नहीं मिल जाता तब तक उसे असफलता रहती है।

अभिप्राय तो यह है कि देह की ओर से विस्मृति हो जाय और इसी विस्मृति का नाम मरण है। जब यह नियम जीवन के दैनिक कार्य्यों में बरता जाता है तो भक्ति में क्यों न बरता जायगा। भक्ति चाहती है कि पूर्णतया उसी के हो जाओ। उसके अतिरिक्त किसी और का ध्यान न रहे तब वह हाथ आयेगी। इसके बिना कठिन है।

बात सरल है मगर समझ में नहीं आती। यदि थोड़ा भी समझ में आ जाय तो क्षणमात्र में अभी काम बना हुआ है।

कबीर साहब की बाणी है:—

भक्ति दुहेली गुरु की, नहिं कायर का काम।
शीस उतारे हाथ सों, ताहि मिले सत नाम॥

भक्ति दुहेली गुरु की, नहिं कायर का काम।
निराधार निष्प्रयोजन, आठ पहर संग्राम॥

भक्ति दुहेली गुरु की, ज्यों खांडे की धार।
डिगमिगाय सो गिर पड़े, निश्चल उतरे पार॥

जब लग भक्ति सकाम है, तब लग निष्फल सेव।
कहैं कबीर वह क्यों मिलें, निःकामी निज देव॥

विषय त्याग वैराग रत, समता हृदय बसाय।
मित्र शत्रु एकौ नहीं, मन में राम रहाय॥

मगर इससे घबराने की आवश्यकता नहीं है। भक्ति स्वयं दुनिया में श्रेष्ठतम पारितोषिक और सबसे बड़ा बदला है। इसका रस हर समय रहता है और वह कार्य्य को सुगम और सुखदायक बना देती है।

चौवनवाँ बचन

दो मार्ग

उपनिषद कहती है कि जीवन के दो मार्ग हैं। एक प्रारम्भ में देखने में सुन्दर और विस्तृत प्रतीत होता है लेकिन ज्यों-ज्यों पग आगे की ओर पड़ता है त्यों त्यों वह देखने में बुरा और संकीर्ण तथा अन्धकार युक्त होता जाता है। दूसरा सर्वथा इससे उल्टा है लेकिन ज्यों ज्यों पग आगे की ओर पड़ता है वह देखने में अच्छा और विस्तृत प्रतीत होने लगता है।

पहला मार्ग स्वार्थ का है, दुनिया का है, संसार का है। मनुष्य इसे बहुत अच्छा समझता है। हर्ष, स्वाद, आनन्द, सुख पाता है। मान, प्रतिष्ठा, धन दौलत हाथ आती है। लेकिन इसका परिणाम क्या होता है? मान प्रतिष्ठा जीवन का भार हो जाता है। 'जो इज्जत में आला, उसका मुँह हर दम काला'। वह छोटे से छोटे आदमियों का दास हो जाता है और भयभीत रहता है कि कोई व्यक्ति उसकी मान प्रतिष्ठा को न बिगाड़ दे। उसे हर समय अवसर देखना, चापलूसी करना नम्र रहना और नीति कुशलता की पड़ी रहती है। यही दशा धन दौलत की भी होती है। चोर का डर, नातेदारों का भय, सरकारी कर्मचारियों की चापलूसी! तात्पर्य यह कि हर प्रकार की आपत्ति होती हैं। इन्द्रियों के सुख की आपत्ति और भी बुरी है। रोग आता है। दुख होता है। हृदय मस्तिष्क और शरीर निकम्मे हो जाते हैं। बदनामी उठानी पड़ती है। यह सब दुख भोग भागकर बेचैनी और व्याकुलता के साथ मरना पड़ता है।

दूसरा मार्ग परमार्थ का है। प्रारम्भ में मन और मस्तिष्क के संयमित और शिक्षित करने के समय थोड़ा सा नाममात्र

को कष्ट प्रतीत तो होता है किन्तु जिस जिस प्रकार भावों में विशालता और विचारों में उदारता और परिस्थितियों में निडरता आती जाती है, उसी प्रकार आनन्द प्राप्त होता जाता है। जीवन उच्च और सुन्दर बन जाता है। किसी का भय नहीं, किसी का लालच नहीं, किसी की अभिलाषा और लालसा नहीं, किसी व्यक्ति या किसी वस्तु की आधीनता नहीं। परमार्थ के साथ स्वार्थ भी नहीं बिगड़ता। दुनिया का भी त्याग नहीं होता। हाँ, दुनियाँ का रूप समझ लिया जाता है और उससे बाहरी सम्बन्ध विच्छेद रहता है। शरीर स्वतंत्र, मन स्वतंत्र, मस्तिष्क स्वतंत्र ! जिस समय शरीर छोड़ने का समय आता है, आनन्द शान्ति और उपमा रहित सुख के साथ इस प्रकार का मनुष्य हँसते खेलते हुए यहाँ से सुगमता से चला जाता है।

अब सोचो, यह अच्छा है या वह अच्छा है ?

यह नहीं कहा जाता कि दुनिया को छोड़ दो। यहाँ न कहीं ग्रहण करने का प्रश्न है न त्याग का ! केवल यथायोग्य व्यवहार करते हुए भक्ति के आदर्श को दृष्टि के सामने रक्खो और लोक परलोक दोनों ही का आनन्द तुमको मिलेगा। प्रत्यक्ष में यदि किसी अंश तक इस दुनिया की सम्पत्ति से बंचित होना पड़ता है तो उसका बदला इतना अधिक मिलता है कि जिसकी कोई सीमा नहीं है।

पचपनवाँ बचन

गुरु मुखता

वेदों की प्रार्थना है—"असतो मासद् गमया" "तमसो मा ज्योतिर्गमया", "मृत्योर्मा अमृतम् गमया"। शब्दों की योजना और सुन्दरता और विचारों की दृढ़ता और व्याख्या की दृष्टि

से यह प्रार्थना अत्यन्त सुन्दर है। इसका अर्थ यह है—"असत से मुझको सत की ओर ले चल", "अन्धेरे से मुझको प्रकाश की ओर ले चल," और "मृत्यु से मुझको जीवन की ओर ले चल"। असत, अन्धेरा और मृत्यु यह तीनों अप्रिय हैं, सत, ज्योति और जीवन यह तीनों ही प्रिय हैं। जो सत्, ज्योति और जीवन है वही सत्, ज्योति और जीवन का आदेश कर सकता है। सत असत का रास्ता नहीं दिखाता क्योंकि सत असत का विरोधी है। प्रकाश अंधेरे से सम्बन्ध नहीं रख सकता क्योंकि प्रकाश अन्धेरे का विरोधी है। जीवन मृत्यु को रास्ता पर नहीं चला सकता क्योंकि जीवन और मृत्यु एक दूसरे के विरोधी हैं। यह प्रार्थना गुरु से की गई है। गुरु ही सच्चा ईश्वर, सच्चा जीवनदाता और सच्ची सचाई की राह दिखाने वाला और सच्चे प्रकाश की ओर ले जाने वाला है। यह तीनों गुण गुरु में हैं। यही तीनों शिष्यों और चेलों मे भी हैं। अन्तर केवल इतना है कि गुरु में सत्, ज्योति और अमृत निश्चयात्मक रूप में मौजूद है और चेले में इनके वास्तविक अस्तित्व के साथ असत, अंधेरा मौर मृत्यु के नफी (असत) के विचार विद्यमान हैं। वह इनसे घृणा करता है और उनके नाम से घबराता है। यही कारण है कि ऐसी प्रार्थना की गई है। चेले ने यहाँ तक समझ लिया है कि गुरु में ये गुण हैं और गुरु पथ-प्रदर्शक होने के योग्य है। यह आस्तिकता की पहिली सीढ़ी है।

इस विश्वास को हृदय में बिठाना गुरु मुखता कहलाती है। गुरुमुखता के दो अर्थ हैं।

प्रथम तो यह कि गुरु को मुख्य जानना, दूसरे यह कि गुरु के मुख से सचाई को स्वीकार करके गुरु के मुख से बोलना और उन्हीं के रंग रूप को स्वीकार कर लेना है।

उपनिषद में ऐसी गाथायें आई हैं कि शिष्य को प्रकृति के

पदार्थों से ज्ञान हो गया है। उसके ललाट में ब्रह्म का महत तेज चमकने दमकने लगा है। लेकिन शिष्य उसका विश्वास नहीं करता। वह फिर भी अपने ज्ञान और अनुभव को गुरु के शब्द के आधीन करके सचाई के मार्ग में आना चाहता है क्योंकि बिना गुरु की सहायता के वह सच्चे ज्ञान की कमाई को पर्याप्त और सन्तोषप्रद नहीं समझता है। इन गाथाओं के अध्ययन से स्पष्ट रूप से प्रकट है कि प्रकृति की समस्त शक्तियाँ अपना ज्ञान देती हुईं अधूरी की अधूरी रह जाती हैं। गुरु की सहायता की आवश्यकता इस उच्च विवेक शक्ति के रखते हुए भी शेष रहती है। किन्तु शोक है कि आजकल उपनिषदों के पढ़ने वाले इस अन्तिम आदेश की आवश्यकता प्रतीत नहीं करते। यही कारण है कि उपनिषदों के पढ़ लेने पर भी वह ज्ञानी नहीं होते। जो व्यक्ति चाहे स्वयं उपनिषद को पढ़कर अपना विश्वास कर ले। सुनी सुनाई बातों पर विश्वास न करे। वह गुरु मुखता है।

हिन्दू तो सनातन से ऐसा ही मानते जानते और करते हुए चले आ रहे हैं कि निगुरे को ज्ञान नहीं होता। मुसलमान सूफियों का भी यही विचार है कि बिना गुरु के मुक्ति नहीं होती। वह यों ही नहीं है किन्तु इस विश्वास और श्रद्धा की जड़ में सचाई छिपी है जिसका समझ लेना आवश्यक है।

जो ज्ञान सीधा प्रकृति के पदार्थों से प्राप्त किया जाता है, उसमें मन मता का अहंकार सम्मिलित रहता है और लाख प्रयत्न किया जाय वह दूर नहीं होता और अधोगति की ओर ले जाता है। इस कारण से गुरु मत बनने और गुरु मत स्वीकार करने की आवश्यकता है।

मन मता में दोष रहता है। गुरु मता दोष से रहित हो जाता है।

मन मता अपने ऊपर भरोसा रखकर चलता है और धोखा खा जाता है। गुरु मता गुरु के ऊपर भरोसा रखकर चलता है और धोखे से बच जाता है।

जंगल में भूला भटका हुआ पथिक रास्ता बताने वाले पर पूरा विश्वास करके अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचने की आशा करता है। दूसरी अवस्था में सम्भव नहीं है कि वह रास्ता भटकने के झगड़े से बच जाय। कम से कम उसके दिल में भय तो रहेगा कि कहीं रास्ते से बेरास्ता न हो जाय क्योंकि जंगल में भिन्न-भिन्न और बहुत से रास्ते आते हैं। वह जानकार नहीं है और उसे पथ-प्रदर्शन की बातों पर पूरा पूरा विश्वास करना ही पड़ता है। यह रहस्य है और इसी कारण से जहाँ हम ने योग साधन की पहिली विधि में सच्चे जिज्ञासू को यह बताया है कि वह स्वयं अपने आप खोज और पहिचान कर ले। फिर गुरु के पास आकर उनके शब्दों का लाभ प्राप्त करे ताकि उसके विश्वास में नाम मात्र भी कमी न रहे।

यह गुरु मुखता और गुरु मता का रहस्य है।

"असतो मासद गमया" "तममो मा ज्योतिर्गमया," "मृत्यो अमृतम् गमया," तू सत है मुझे असत से सत की ओर ले चल। तू ज्योति स्वरूप है मुझे अंधेरे से ज्योति की ओर लेचल (अर्थात् अज्ञान से ज्ञान की ओर ले चल)। तू अमृत है मुझे मृत्यु से अमरत्व की ओर चलने का आदेश कर। यह प्रार्थना प्रकृति की किसी शक्ति से नहीं की गई किन्तु गुरु से की गई है। प्रकृति की कोई शक्ति बुराई से छुटकारा नहीं दिला सकती क्योंकि वहाँ इसका अभाव है। चन्द्रमा के प्रकाश में चोर चोरी करता है। योगी योग के साधन में निमग्न होता है। चन्द्रमा का प्रकाश दोनों ही का सहायक बना रहता है" बन्धन

से मुक्ति दिलाने वाला गुरु का स्वरूप है। इसके सिवा और कोई नहीं है।

सामान्य चेतन अज्ञान का विरोधी नहीं है। विशेष चेतन्य ही उसकी औषधि है और विशेष चेतन्य केवल गुरु का स्वरूप है। इसपर खूब विचार करो तब यह रहस्य समझ में आवेगा। हम योंही बिना समझे बूझे नहीं कह रहे हैं। सारी आयु जिज्ञासा में व्यतीत हुई है। पढ़ा लिखा सोचा समझा, किन्तु उस समय तक निदिध्यासन (पूर्ण निश्चय) की सीढ़ी नहीं मिली जब तक गुरु के चरणों के नीचे बैठ कर अध्यात्म का पाठ नहीं पढ़ लिया।

गुरु की भावनाओं को अपने अंदर ले कर गुरु की बातें समझ में आती हैं। गुरु के ज्ञान की सहायता से गुरु ज्ञान की उच्चता का दृश्य देखने में आता है। जब तक गुरु नहीं मिलता तब तक कचाई रह जाती है और सच्ची सफलता नहीं मिलती।

तुम में नेत्र हैं। जब तक तुम में नेत्र न हों तुम देखने के योग्य कहाँ हो सकते हो। मगर नेत्रों के होते हुये सूर्य्य से भी प्रकाश प्राप्त करने की आवश्यकता रहती है। तुम हजार आँख वाले हो यदि सूर्य प्रकाशित नहीं है और सूर्य से प्रकाश का लाभ नहीं उठाया गया तो आंखों का होना न होना बराबर है। गुरु का रूप अध्यात्मिक सूर्य है। गुरु मनुष्य के रूप में छुपे हुये ज्ञान के सूर्य हैं। पहिले उनसे अध्यात्मिक भाव और विचार लो। तब ही जाकर तुम को रूहानियत (अध्यात्म) की फुरना होगी। दूसरे ढंग से इसका प्राप्त होना कठिन है।

छप्पनवाँ बचन

गुरु मुखता (लगातार)

पोथी सारबचन राधास्वामी कहती है:—

"सत्गुरु अपनी दया से सदा जीवों की संभाल करते रहते हैं और चाहते हैं कि सब सेवक उनके चरणों में मुख्य प्रीति और प्रतीति करें; पर यह मन नहीं चाहता कि ऐसी हालत जीव को प्राप्त होवे। इसी वास्ते वह भोगों की तरफ खेंचता है। और अपने हुक्म में जीवों को चलाता है। इस वास्ते जीवों को चाहिये कि मन की घात से बचकर सत्गुरु के चरणों की संभाल रक्खे। इस वास्ते परख और सभाल का थोड़ा सा हाल गुरुमुख और मन मुख की चाल का लिखा जाता है। उससे हालत की परख करते हुये चलना चाहिये।"

यह विषय अगले बचन में ज्यों का त्यों नकल कर दिया जाता है।

सत्तावनवाँ बचन

गुरु मुख और मन मुख की चाल

उसी पुस्तक से उद्धृत है:—

(१) "गुरु मुख हर एक के साथ सच्चा बरतता है और बुराई की बातों से बचता है और किसी को धोखा नहीं देता है और जो काम करता है सत्गुरु के लिये और उनकी दया के भरोसे करता है।"

(१) "मन मुख चतुराई और कपट से बरतता है और अपने मतलब के लिये औरों को धोखा देता है। और अपनी बुद्धि और चतुराई का भरोसा रखता है और अपने आपको प्रगट करना चाहता है।"

(२) "गुरु मुख मन और इन्द्रियों को रोकता है और चित से दीन रहता है और ताने के बचन को सहता और नसीहत को प्यार से सुनता है और अपनी बड़ाई नहीं चाहता।"

(३) "गुरु मुख किसी पर जबरदस्ती नही करता और सब की खातिरदारी और सेवा करने को तैयार रहता है। औरों का उपकार करना चाहता है। और अपनी पूजा और निष्ठा की चाह नहीं रखता है और सत्गुरु की याद और उनके चरणों में लौलीन रहता है।"

(४) "गुरुमुख गरीबी और दीनता नहीं छोड़ता है। और जब कोई उसकी निन्दा करे या निरादर या अपमान करे तो दुखी नहीं होता है बल्कि उसमें अपने लिये भलाई समझता है।"

(५) "गुरुमुख सेवा में आलस्य नहीं करता और कभी खाली बैठना नहीं चाहता।"

(६) "गुरुमुख गरीबी और सादगी से रहता है और जो सामान मिल जाय रूखा सूखा

(२) "मन मुख इन्द्रियों का मर्दन पसंद नहीं करता। और किसी से दबना या उसका हुक्म मानना नहीं चाहता है। और दूसरे की बड़ाई की बर्दाश्त नहीं रखता है।"

(३) "मन मुख औरों पर हुक्म चलाता है और सेवा लेता है। और अपना मान चाहता है। और बिना कुछ अपने मतलब के औरों से प्रीति नहीं करता। और खुशी से अपनी पूजा और निष्ठा कराता है। और चरणों में लौ-लीन नहीं रहता।"

(४) "मन मुख निन्दा और अपमान से डरता है और अपना निरादर खुशी से नहीं सहता और बड़ाई चाहता है।"

(५) "मन मुख तन का आराम चाहता है और सेवा में सुस्ती करता है।"

(६) "मन मुख सदा अच्छे अच्छे पदार्थ को चाहता है और उनको प्यार करता है और रूखे

मोटा झोटा उसी में खुशी से गुजारा करने को तैयार रहता है।"

(७) "गुरुमुख संसारी पदार्थों और दुनिया के जाल में नहीं अटकता है और उनको लाभ और हानि में दुखी सुखी नहीं होता है। और जो कोई ओछी बात को कहे तो उस पर गुस्सा नहीं करता है और सदा अपने जीव के कल्याण और सतगुरु की प्रसन्नता पर नजर रखता है।"

(८) "गुरुमुख हर बात में सफाई और सचाई रखता है और चित से उदार रहता है। और औरों से सलूक करता है औरों का फायदा चाहता है। और आप थोड़े में संतोष करता है। और दूसरों से लेने की चाह नहीं रखता।"

(९) "गुरुमुख संसारी जीवों से बहुत प्यार नहीं करता है। और भोगों की चाह और आशा नहीं रखता और सैर तमाशे नहीं चाहता है। उसको केवल चरणों की प्राप्ति की चाह रहती है और उसके आनन्द में मालक रहता है।"

सूखे पदार्थों को पसंद नहीं करता है।"

(७) "मन मुख संसार और उसके पदार्थों का बड़ा ख्याल रखता है और उनकी हानि लाभ में जल्द सुखी दुखी होता है। और जो कोई कड़ुवा बचन कहे तो फौरन गुस्सा से भर जाता है। और सतगुरु की मेहर और समर्थता का भरोसा और ख्याल नहीं रखता।"

(८) "मन मुख लालची है। सदा औरों से लेने को तैयार रहता है और देना नहीं चाहता है। दूसरे का ख्याल नहीं रखता। और तृष्णा बढ़ाता है और सफाई नहीं बरतता।"

(९) "मनमुख संसारी जीवों और पदार्थों को प्रीति करता है और भोग विलास चाहता है। और सैर तमाशे में खुश होता है।"

(१०) "गुरुमुख जो काम करता है सत्गुरु की प्रसन्नता के लिये और उनसे दया और मेहर चाहता है। वह उनही की स्तुति करता है और उन्हीं की बड़ाई चाहता है और संसार की चाह नहीं रखता।"

(११) "गुरुमुख किसी से विरोध नहीं करता बल्कि विरोधी से भी प्यार करता है। और कुल कुटुम्ब, जाति पाँति और बड़े आदमियों से दोस्ती का अपने मन में अहंकार नहीं लाता। और प्रेमी और सच्चे परमार्थी जीवों से ज्यादा प्यार करता है और सत्गुरु के चरणों का प्रेम सदा जगाये रखता है और उनकी दया और मेहर नित्य प्रति विशेष हासिल करना चाहता है।"

(१२) "गुरुमुख गरीबी और मुफलिसी (निर्धनता) से नहीं घबराता और जो तकलीफ आ पड़े उसको धीरज के साथ सहता है। और सत्गुरु की दया का भरोसा रखता है और उनका शुक्र करता रहता है।"

(१०) "मनमुख जो काम करता है उसमें कुछ न कुछ अपना मतलब या स्वाद देख लेता है। क्योंकि बिना मतलब के उससे कोई काम नहीं बन सकता और सदा अपना आदर और स्तुति चाहता है और संसारी चाह उसके ज़बर रखती है।"

(११) "मनमुख बहुत कुटुम्ब और मित्र चाहता है और धनवान और हुकूमत वालों से ज्यादा मुहब्बत करता है और उनकी मित्रता और अपनी जाति पाँति का अहंकार रखता और दिखावे का काम बहुत करने को चाहता है और सत्गुरु की प्रसन्नता का खयाल कम रखता है।"

(१२) "मन मुख बहुत जल्द तकलीफ़ से घबराकर पुकारने लगता है और निर्धनता से दुखी होकर इधर उधर शिकायत करता है।"

(१३) "गुरुमुख सब काम को मौज के हवाले करता है और चाहे भला होवे चाहे बुरा होवे अपना अहंकार उसमें नहीं लाता है। और अपनी बात की पक्ष नहीं करता। और औरों की बात को ओछी करके नहीं दिखलाता। और झगड़े के कामों में नहीं पड़ता। और हमेशा सतगुरु की मौज निहारता रहता है और उनका गुन गाता हुआ चलता है।"

(१३) "मनमुख सब कामों में अपना आपा ठानता है। और अपने मजे और नफे के लिये झगड़े और रगड़े के काम उठाता रहता है। और अपनी बात की पक्ष में क्रोध करने और लड़ने को तैयार हो जाता है।"

(१४) "गुरुमुख नई नई चीजों में और बातों में नहीं अटकता क्योंकि वह देखता है कि उनकी जड़ संसार है। और अपने गुण संसार से छुपाये चलता है और अपनी तारीफ कराना नहीं चाहता। और जो कोई बात सुने या देखे उसमें अपने मतलब का नुक्ता जो सतगुरु की प्रीति और प्रतीति बढ़ावे छांट लेता है और सदा सतगुरु की महिमा गाता रहता है जो कि सब गुणों का भंडार है।"

(१४ "मनमुख चाहता है कि नित नई चीजें देखे और नई बातें सुने और हर किसी का भेद और गुप्त बात दर्याफ्त करना चाहता है और इधर उधर से बातें चुनकर अपनी बुद्धि और चतुरता को बढ़ाता है यह सबको जताकर अपनी महिमा कराना चाहता है और अपनी स्तुति में राजी रहता है।"

(१५) "गुरुमुख जो काम परमार्थी करता है धीरज के साथ

१५ "मनमुख हर बात में जल्दी करता है और सब काम

करता है। और हमेशा सतगुरु की मेहर और दया का भरोसा और उनके चरणों में निश्चय पक्का रखता है।"

जल्दी के साथ पूरे करना चाहता है। और इस जल्दी में सतगुरु की मेहर का भरोसा और उनके वचन का निश्चय भूल जाता है।"

अट्ठावनवां वचन

शरणागत और मौज (भगवत् इच्छा) का मार्ग

गुरु मुखता शरणागति और मौज का मार्ग है और गुरु ख्याली केन्द्र है जिसके सहारे इसपर चला जाता है। बिना गुरु की सहायता के न इसकी समझ आती है और न इसपर चला जा सकता है।

इस दुनिया का पैदा करने वाला बुरा है या भला है। यदि वह भला है तो फिर उसकी बनाई हुई दुनियाँ को बुरा क्यों कहते हो? अच्छा कारीगर अच्छा काम करता है। बुरा कारीगर बुरा काम करता है। पूर्ण कारीगर ने यदि उसे बनाया है तो उसमें तनिक भी बुराई या दोष नहीं होना चाहिये। यदि तुमको दुनियां में बुराई दिखाई देती है तो फिर उसके बनाने वाले को सच्चा और पूर्ण कारीगर मत कहो। वह कुछ और ही होगा। दुनियाँ को बुरा बतलाने से तुम अपने बचन, कर्म और मन से उसे दोष युक्त कारीगर सिद्ध करते हो।

जिस सम्प्रदाय वाले को देखिये दुनियाँ की शिकायत करता है और उठते बैठते उसे कोसा करता है। क्या यह कोसना उचित है? तुम क्यों ऐसा करते हो? इसका कोई कारण भी है अथवा यों ही व्यर्थ जिभ्या को भ्रष्ट करते हो। यह तो ईश्वर की पूजा नहीं है और न धर्म का अभिप्राय है।

तुम कहोगे कि दुनियाँ में कमी है। अकाल है, युद्ध है, दरिद्रता है और तरह तरह की आपत्तियाँ हैं। इनसे किस प्रकार आखें मीची जाँय। सांप, बिच्छू और कितने ही हिंसक जीव हैं। यह सब दुखदाई हैं। इनको दृष्टि से कैसे हटाया जासकेगा! क्या यह गलत है? हम कहते हैं कि यह जैसे हैं वैसे हैं। इनसे दुनियां में कोई भी दोष नहीं है। दुनियां तो पूर्ण ही है। वह जैसी है वैसी है। केवल तुम्हारी दृष्टि का दोष है। ईश्वर की दुनिया पूर्ण कारीगरी, पूरी शुभ भावना और पूर्ण शुभ संकल्प का चित्र है। तुमने जैसी दृष्टि बनाई है वैसे विचार तुम्हारे मन में उत्पन्न होते है और वैसे ही विचारों के आधीन तुम बात चीत करते हो और बातचीत के सिलसिले में उसी प्रकार के कर्म तुम्हारे हाथ से होंगे। कर्म, मन और बचन के संस्कारों को साथ लिये हुये तुम सुख और दुख के दृश्य देखते हो और सुख दुख भोगते हो। इस में ईश्वर का क्या अपराध है? काम करो तुम और अपराध ईश्वर के सिर थोपो, यह बात अच्छी तो नहीं है।

ईश्वर की रचना में जो कुछ हो रहा है वह मौज और मसलहत (इच्छा) के साथ हो रहा है। उसकी मौज और मसलहत में 'क्यों'? और 'किस प्रकार?' के प्रश्न करने की गुंजाइश नहीं है। कारण यह कि जो कुछ हमारी शिकायत है वह वास्तव में ईश्वर वाली रचना से नहीं है किन्तु अपने आप वाली रचना से है। मनुष्य जो अपनी दुनिया बनाता है उसी का दुखड़ा रात दिन रोया करता है। ध्यान से देखा जाय तो उसे ईश्वर की दुनिया से इतनी शिकायत नहीं है।

ईश्वर की दुनिया और है और मनुष्य की दुनिया और है और ब्रह्म की दुनिया और ही है। यह सब भिन्नता मनुष्य ही की दृष्टि से है और इनका कारण उसके वास्तविक भ्रम के

विचार हैं। वह भ्रम में पड़ गया है और भ्रम के कारण उसे दुख सुख अपनी स्वार्थी दृष्टि के कारण प्रतीत होते हैं। इस स्वार्थ की जड़ उसका अहंकार है। यदि मनुष्य उसमें सुधार कर ले तो फिर उसे दुख सुख का भ्रम जाता रहे।

एक स्त्री है। वह ईश्वर की दुनियाँ में उसकी बनाई हुई है। वह स्त्री की दृष्टि से हर दशा में समान है मगर मनुष्य उसे अपनी दुनियाँ में अपना बना लेता है। जब वह ईश्वर की दुनिया की वस्तु को अपनी दुनियां की वस्तु बनाने लगता है तब ही उस स्त्री में भिन्न-भिन्न प्रकार के अहंकारों के प्रभाव पड़ने से वह अनेक रूप वाली हो जाती है। वह किसी की ताई है। किसी की चाची है। किसी की बहिन है। किसी की माँ, पत्नि और फूफी है। एक ही रूप जिस समय भिन्न भिन्न रूपों में दिखाई देने लगता है तो खेंचातान उत्पन्न हो जाती है और खेंचातान का परिणाम दुख होता है। इसी प्रकार चूँकि मनुष्य की दुनिया में अहंकार के कारण से अनेकता है। वह खेंचातान से खाली नहीं रहती। मनुष्य उसी का उपाय सोचने लगता है। इस प्रकार शिकायतों की भरमार हो जाती है जो उसी के अपने गलत भ्रम का परिणाम है।

इस अनेकता की खेंचातान से छुटकारा पाने का ढंग गुरु की भक्ति है। चारों ओर से जब चित को समेटकर एक गुरु के चरणों में लगाया जाता है तो अनेकता की ओर से स्वयं दृष्टि हटने लगती है। उसे आप ही आप विश्वास होने लगता है कि यहाँ जो कुछ है, उसमें यदि अपना अहंकार और अपना स्वार्थ न लगाया जाय तो वह मौज और मसलहत के अनुसार है। इस प्रकार के विचार और विश्वास के अनुसार चलने को मौज का मार्ग और शरणागति का रास्ता कहा जाता है।

प्रारम्भ ही में मनुष्य ऐसा नहीं हो जाता। रोग के इलाज

में थोड़ी देर लगती है। जिस जिस तरह अहंकार का रोग दूर होता जाता है उतनी ही बुद्धि शुद्ध होती जाती है और शिकायतें मिटने लगती हैं। जब वह बिल्कुल ही अपनी अपनी दुनियां से दृष्टि को हटा लेता है अर्थात् स्वार्थ और अहंकार कम होने लगता है, उसे ईश्वर की दुनिया का दृश्य उतना दुखदाई प्रतीत नही होता। मगर अभी उसका अज्ञान पूर्णतया दूर नहीं हुआ। जड़ फिर भी बाकी है लेकिन गुरु की कृपा से जब वह इसे भी छोड़ जाता है और ब्रह्म की दुनियाँ का अध्ययन करने लगता है तब उसका भ्रम नही रहता। उसी का अपना अहंकार ब्रह्म के अहंकार में लीन हो जाता है।

ब्रह्म का अहंकार मनुष्य के अहंकार से भिन्न है। यह प्रकृति का नियम है और व्यापक नियम है। सारे जगत का प्रबन्ध उसके आश्रय है। जिस प्रकार किसी कल के समस्त पुर्जे उसी कल में गुथे हुए गति और स्थिति का दृश्य दिखाते हैं उसी प्रकार जब मनुष्य इस सर्व व्यापक नियम से मिलकर एक हो जाता है तो ब्रह्माण्ड के काम का सिलसिला सुन्दर प्रतीत होता है। उसका प्रबन्ध ज्यों का त्यों रहता है लेकिन उसमें दुख और कष्ट भान नहीं होता।

दुख और कष्ट का भान तो वहाँ होता है जहाँ कल का कोई पुर्जा अकड़ जाता है या अड़ जाता है। उसी की दुरुस्तगी के लिये लुहार या कारीगर का हथौड़ा उसके ठीक करने और अकड़ छुड़ाने के लिये आ मौजूद होता है। यह अड़ना और अकड़ना मनुष्य का आँशिक और व्यक्तिगत अहंकार है। इसी में दुख की जड़ है और यही अज्ञान का मूल कारण है। जो कुछ संसार में मनुष्य पर विपत्ति और आपत्ति आती हैं, वह सब अहंकार के सुधार के लिये आती हैं। इसमें भी बहुत बड़ी मौज और मसलहत छिपी हुई है। जो उसे एक बार

समझ लेता है वह फिर भूलकर भी शिकायत नहीं करता। बल्कि उसे विश्वास हो रहता है कि यह दुख भी छिपे रूप में कृपा ही के रूप में हैं। इस विश्वास का अभ्यास और उसका पक्कापन उसे थोड़े ही समय में कुछ का कुछ बना देता है।

जब तक अकड़ रहेगी विपत्तियों का आना आवश्यक है। इसकी कोई औषधि नहीं है। अकड़ को छोड़ दो, विपत्ति मिट जायगी। अकड़ के साथ ही वह रहती है। रस्सी में उलझन की अकड़ पड़ गई। उसे सुलझाने में खेंचातानी होती रहती है और यह खेंचातान उस समय तक बराबर मौजूद रहती है, जब तक उलझन नहीं जाती। यह नियम प्रकृति के प्रत्येक व्यक्ति में दिखाई देता है और हर प्रकार के काम में चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, हार्दिक हो या आत्मिक, लोक का हो चाहे परलोक का, तात्पर्य कि सर्वत्र वह प्रतीत होता है।

गुरु भक्ति से यह सुगमता से दूर हो जाता है।

गुरु भक्त की पकड़ दुनिया के किसी काम में नहीं होती क्योंकि दुनिया की किसी वस्तु में उसकी आसक्ति या अपनापन नहीं होता। कोई आदमी मर गया। वह समझ लेता है कि इसमें कुछ रहस्य होगा। धन गया। उसने विश्वास कर लिया कि धन के चले जाने ही में कुशलता रही होगी। वह जानता है कि दुनिया जो कुछ है वह मालिक ही की है, उसका अपना कुछ नहीं है। फिर उनके पृथक होने से उसे दुख क्यों होने लगा!

मेरा मुझको कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागे है मोर॥

उनसठवाँ बचन

मौज का एक दृष्टान्त

किसी जंगल में एक साधू रहता था। उसकी जिभ्या पर यह शब्द रहते थे—"राम की मौज ! जो कुछ होता है राम की मौज से होता है और राम की मौज के होने ही में सच्चा भलाई है।" वह इसी विचार में मस्त रहता था।

एक दिन उस देश का राजकुमार मन्त्री और खजानची के लड़कों को साथ लिये हुए शिकार को निकला। यह तीनों मित्र थे और सदा साथ रहते थे। साधु के झोंपड़े की तरफ से वे निकले। थके मांदे भूखे प्यासे थे। साधु से मिले। कहा कि हम थके हुए हैं। साधु का जैसा स्वभाव था, उसके अनुसार उसने उनका वृतान्त सुनकर कहा—"राम की मौज ! जो कुछ होता है राम की मौज से होता है और राम की मौज ही में भलाई है।" राज पुत्र, मन्त्री पुत्र और खजानची पुत्र तीनों ही को यह बातें बुरी लगीं। मगर चूँकि साधु ने उनको प्रेम से पानी पिलाया, भोजन कराया और अपने झोंपड़े में विश्राम के लिये स्थान दे दिया, ये उसकी बातों को भूल गये। जब धूप की तेजी कुछ कम हुई यह जंगल में शिकार के लिये निकले। हिरण का पीछा किया। हिरण कनौंती बदलता हुआ उन्हें एक ऐसी जगह ले गया जो भयानक थी। तीनों ही गिरे। राजकुमार की आँख फूट गई। वजीर पुत्र की टाँग टूट गई। खजानची पुत्र का हाथ बेकाम हो गया। तीनों ही कष्ट से व्याकुल होकर कराहने लगे। अभी दिन कुछ बाकी था कि उनके कान में आवाज आई, "राम की मौज ! जो कुछ होता है राम की मौज से होता है और राम की मौज के होने ही में भलाई है।" यह सुनाता हुआ साधू उस जगह आया जहां यह तीनों भूमि पर

पड़े थे। साधू ने उनकी दशा देखी। दौड़ गया। गाँव से आदमी पकड़ लाया और घायलों को अपने झोंपड़े में उठा लाया औषधि की। इन्हें आराम तो हो गया मगर यह हमेशा के लिये अंगहीन हो गये। राजपुत्र एक आंख का काना, दीवान पुत्र एक टांग का लंगड़ा और खजानची पुत्र एक हाथ का लूला हो गया। साधू ने उनसे पूछा कि यह दशा किस तरह हुई। उन्होंने अपना कुल वृतान्त सुनाया। साधु अपने स्वभाववश बोल उठा—'राम की मौज! जो कुछ होता है राम की मौज से होता है और राम की मौज के होने में ही सच्ची भलाई है।" तीनों को यह बात बुरी लगी और शत्रुता की ठान ली और कृतघ्नता को तिलाँजलि देकर इस निर्दोष साधु को हानि पहुँचाने पर तुल गये। वे इस हानि पहुँचाने के उद्देश्य को हृदय में रखकर चल दिये। आराम होने पर परामर्श किया कि साधु ने चूँकि उनकी आपत्ति के समय हर्ष प्रकट किया है उससे बदला लेना चाहिए।

वे जंगल में आये। उस दिन साधु लकड़ी चुनने के लिये झाड़ियों की ओर गया हुआ था। किसी वृक्ष से उसका सिर टकरा गया। रक्त जाने से वह बेहोश हो गया और कांटे कटीले की झाड़ियों में गिर पड़ा जिससे उसकी देह में और भी खरोंच आ गईं। ये लोग झोंपड़े में आये। ढूँढ़ा। साधू का कहीं पता नहीं लगा। विवश होकर निराशा में वापस चले गये। जब साधू को होश हुआ वह उसी बेबसी की दशा में पड़ा हुआ हाँक लगाता रहा—"राम की मौज! जो कुछ होता है राम की मौज से होता है और राम की मौज के होने में ही भलाई है।" वह इसी धुन में मस्त था। गाँव के लोग जो उसके श्रद्धालु थे, झोंपड़े में उसे न पाकर जगह जगह ढूँढ़ते हुए वहाँ आये जहाँ वह काँटों में उलझा हुआ अपनी हाँक लगा

रहा था। ज्यों त्यों करके उसे निकाला। घर लाये, मरहम पट्ट की और वह अच्छा हो गया।

दूषित हृदय वाले युवक साधू को दण्ड देने के ख्याल को नहीं भूले थे। कुछ दिनों पश्चात वह फिर उसी दुर्भावना से निकले। इस बार वे नाव में बैठकर आये थे क्योंकि साधू का झोंपड़ा नदी के किनारे पर था मगर साधू वहाँ नहीं था। पूछ गछ पर ज्ञात हुआ कि वह किसी निकटवर्ती गाँव में ब्रह्म भोज खाने गया है। यह भी भेष बदले हुए वहाँ पहुँचे। साधू राह में मिला। युवकों ने कहा—"चलो, नाव पर बैठ लो। हम तुमको झोंपड़े पर पहुँचा देंगे।" साधू हँसा—'राम की मौज! जो कुछ होता है राम की मौज से होता है और राम की मौज के होने ही में भलाई है।" वे चारों नाव पर बैठे। राह में गहरा जल था। तीनों ने साधू को बाँध लिया और जल में ढकेल दिया। यह गोते खाने लगा और वह खुश होकर अपनी राह लगे। अपनी समझ से उन्होंने साधु को दण्ड दे दिया। उनको शाम हो गई थी। आकाश पर अन्धेरा छा गया था। यह नाव को खेते चले आ रहे थे कि दूसरी नाव से मुडभेड़ हो गई। इस पर भील सवार थे। वह उछल कूदकर इनकी नाव में आये। यह तीन थे और वह दस थे। खेंचातान हुई और भीलों ने उन्हें बांधकर अपनी नाव में रख लिया। राह में भीलों ने परामर्श किया—"देखना चाहिए कि यह कैसे आदमी हैं।" जब दीपक के उजाले में वह देखने लगे तो एक काना, एक लंगड़ा और एक लूला दिखाई पड़ा। भीलों ने कहा, "राम राम! यह तो किसी काम के आदमी नहीं हैं। इनका बलिदान ठीक न होगा। काली माता को अंगहीन आदमियों का बलिदान पसन्द नहीं आता।" क्रुद्ध होकर उन्होंने इन्हें पानी में ढकेल दिया और जिधर से आये थे उधर चले गये।

मालिक की मौज ! वह साधू किसी प्रकार डूबने से बच गया था और उसी जगह बैठा हुआ हाथ पाँव मल रहा था क्योंकि रस्सियों से जकड़े जाने पर उसे चोट आ गई थी। इसने पानी में धमाके की आवाज सुनी और वह जान गया कि आदमी पानी में हाथ-पाँव मार रहे हैं। यह साधु था। साधु सहानुभूति वाले होते हैं। चन्द्रमा के प्रकाश में वह उसी प्रकार अपनी बेतुकी हांक लगाता हुआ धम से कूद पड़ा। एक एक को निकालकर बाहर लाया। यह लज्जित थे। उन्होंने ने तो हांक लगाने के कारण साधू को पहिचान लिया मगर साधू उन्हें रात के समय न पहिचान सका। फिर अपने झोंपड़े में लाया। सेवा सुश्रूषा की। आग जला दी कि उनको गर्मी पहुंचे मगर जिस समय उसकी दृष्टि इन पर पड़ी वह जोर से अट्टहास करके चिल्ला उठा—"राम की मौज ! जो कुछ होता है राम की मौज से होता है। राम की मौज ही के होने में सच्ची भलाई है।"

दूसरे दिन प्रातः ये लज्जित होकर अपने महलों को चले गये। फिर साधू की ओर से अपना विचार बदल दिया कि वह बुरा आदमी नहीं है। ये शब्द उसके तकिया कलाम हैं और वह मौज के आधीन रहता है।

साठवाँ बचन

मौज की व्याख्या

यह दुनिया हमारी नहीं है किन्तु मालिक की है। वह जानता है कि इसकी भलाई किस बात में है। वह पूर्ण बोध और सर्वज्ञ है। वह हमारे आधीन नहीं है और न उसका काम ही हमारी सहायता या सुधार के आधीन है। उसने सोच

समझकर अपना काम किया है। वह जाग्रत पुरुष हर समय उसकी सँभाल में स्वयं ही लगा रहता है। हमारी शक्ति ही क्या है जो हम उसके और उसकी दुनिया के सहायक होने का दावा करें। क्या वह स्वयं अपने काम के लिये आप पर्याप्त नहीं है!

हम किसी साधु को एक रोटी देकर समझते हैं कि इस साधु को हमारा कृतज्ञ होना चाहिये और सोचते हैं कि यदि हम उसे टुकड़ा न देते तो वह भूखा रह जाता। "ऐ मूर्ख मनुष्य! इस मूर्खता का भी कहीं ठिकाना है? सृष्टि के प्राणियों को जीविका तू देता है या वह देता है अर्थात् मनुष्य देता है या ईश्वर देता है? तेरी शक्ति ही कितनी है जो इस प्रकार व्यर्थ अभिमान करता है।" क्या यह ठीक नहीं है कि तू उन दरिद्रों को सहायता देकर अपनी उदारता, विशाल दृष्टि और उपकार के भाव की वृद्धि करता हुआ अपना आप सुधार कर ले। तू किस किस को देगा और किस किस का उपकार करेगा, यह तेरी शक्ति से बाहर है। उस साधु या फकीर का कृतज्ञ हो जो तेरे द्वार पर भीख माँगने आता है। वह आप ईश्वर का रूप है और तेरे ही उपकार के लिये तेरे द्वार पर आकर खटखटाता है। जो करते बने कर ले। बहती हुई गंगा में हाथ धोना हो तो धो ले। व्यर्थ अहंकार क्यों करता है? इस साधु के आने में तेरी ही भलाई की मसलहत छिपी हुई है और तू अकड़ू बनकर डींग मारता है। दान करने से तेरा भला होगा। साधु तेरे पाप को धोता है। तू क्या करता है? तुझ से हो क्या सकता है? इनके आने को अपना सौभाग्य समझ और उनसे लाभ उठा ले।

देय देय कुछु देय तू, जब लग तेरी देह।
निश्चय कर उपकार ही, जीवन को फल येह॥
देय देय कछु देय तू, जब लग तेरी देह।
देह खेह हो जायगी, फिर कौन कहेगा देह॥

धन दिये धन ना घटे, नदी न घट्टे नीर।
अपनी आँखों देख ले, यों कथ कहें कबीर॥
गांठि होय सो हाथ ले, हाथ होय सो देह।
आगे हाट न बानिया, लेना है सो लेह॥
देह धरे का गुन यही, देय देय कछु देय।
कहें कबीरा देय तू, जब लग तेरी देह॥

यह सच्चा दान है।

आदमी को बाल बच्चे इसलिये नहीं मिले हैं कि वह इन्हें गले का हार बनाकर रक्खे, किन्तु इसलिये कि मौज के आधीन रहकर उनके साथ प्रेम भाव का बर्ताव करे ताकि उसमें प्रेम भक्ति का अंकुर जमे। तू ने कैसे समझ लिया कि यह तेरे लड़के हैं! यह तो सत्पुरुष राधास्वामी के बाल बच्चे हैं और केवल तेरे ही उपकार की दृष्टि से तुझे दिये गये हैं। तू अपना काम नहीं बनाता। व्यर्थ झंझटों में फँसकर अहंकारी होता है। मृत्यु आती है और बच्चे छिन जाते हैं। तेरे होते तो तेरे ही पास क्यों न रहते। ज़रा उनको मृत्यु के पंजे से रोक तो ले। तब हम जानें। समय को मूल्यवान समझ। धाय की भाँति उनका पालन पोषण कर। उनके साथ प्रेम का बर्ताव करता हुआ प्रेम की पूँजी को जितना जी चाहे बढ़ा ले। जब वह छिन जायें तो सन्तोष के साथ मालिक को धन्यवाद दे। वह इतने ही समय के लिये तुझे दिये गये थे। अधिक लालसा न कर, वर्ना व्यर्थ परेशान होगा। इसी प्रकार और दुनियावी पदार्थों के सम्बन्ध में सोच ले।

यह मौज के आधीन रहने की फिलोसफी है।

इकसठवाँ बचन

लालची मनुष्य

लालची मनुष्य सदा दुखी रहता है। लोभ और लालच का स्वभाव उसे विशाल हृदय वाला नहीं बनने देता। बिना विशाल हृदय हुए उसके भाव उच्चता की ओर नहीं जाते और वह नीच विचार और ओछी प्रकृति का बन जाता है।

ग्रामीणों की एक कहानी है और कथा बड़ी मनोरंजक है जिससे लालची मनुष्य की दशा के अनुमान लगाने में सुगमता होती है। कहानी तो कहानी ही है। कल्पित, मिथ्या और मन गढ़ंत है. किन्तु उससे शिक्षा अच्छी मिलती है। कथा यह है:—

"जब ब्रह्मा ने इस जगत को रचा, मनुष्य, बैल, कुत्ता, बिल्ली, उल्लू और बन्दर की आयु चालीस चालीस वर्ष नियत की। उनसे कहा कि चालीस वर्ष जीवित रहकर मेरे पास आओ।"

बैल, कुत्ता, बिल्ली, उल्लू और बन्दर ने पूछा कि हमारे लिये काम क्या है? ब्रह्मा बोले—"बैल हल जोते, कुत्ता घरों की चौकीदारी करे, बिल्ली म्याऊ म्याऊँ करती हुई झूँठा खाय और उल्लू मूर्ख बना रहे। दिन दोपहर भी उसे कुछ दिखाई न दे। बन्दर चौ हत्था बना हुआ नाचे कूदे मुँह बनाये।"

यह जानवर बड़े घबराये—"भगवान! जीवन वैसे ही बन्धन की अवस्था है। शरीर रूपी जंजीर आपत्ति कारक है। जन्म लेना महा पाप है। शत्रु की भी ऐसी दशा न हो। लोग जन्म लेते ही रोते आते हैं और आयु पर्यन्त रोते झींकते हैं। इस पर ४० वर्ष की अवधि नियत की है।

काले पानी की सजा भी २० वर्ष से अधिक नहीं होती। यदि आपको आयु पर्यन्त देश निकाले का ही दण्ड देना है तो बीस ही वर्ष रहने दीजिये। जो कुछ होगा आगे हम भोग लेंगे। बीस वर्ष हमारी आयु में घटा दीजिये।"

ब्रह्मा जी ने उत्तर दिया—"४० वर्ष का कानून मैंने पास कर दिया। अब उसमें घटा बढ़ी नहीं की जा सकती। हाँ, तुम में से कोई दूसरा बीस वर्षों को लेना चाहे तो मैं तुम्हारी घटा कर औरों को दूँ।"

सब ने मिलकर यही कहा—"किसी को यह दशा प्रिय नहीं है और न हम आपत्ति में पड़ना चाहते हैं।"

ब्रह्मा बोले—"फिर तो मैं विवश हूँ। क्या उसमें से किसी में सहानुभूति का ऐसा गुण नहीं है जो दूसरे की विपत्ति अपने सिर पर लेकर औरों को छुटकारा दिलाये।"

जानवरों ने कहा—"हम ऐसी सहानुभूति से दूर ही भले! धिक्कार है उस सोने पर जिस से कान फट जायँ। आप तो हमारे गले में लोहे की हँसली डाल रहे हैं।"

ब्रह्मा मौन होकर विचार करने लगे। यह जानवर हठीले हैं। इनकी हठ के सामने मेरी दाल न गल सकेगी। कोई इनसे अधिक मूर्ख मिले तो निस्सन्देह यह बला उसके सिर मढ़ी जा सकेगी।"

ब्रह्मा जी की दृष्टि मनुष्य पर गई जो चुपचाप खड़ा हुआ सब की बातों को सुन रहा था। उसके मन में लालच था कि इन जानवरों की आयु मुझे मिल जाय।

यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह अगड़म बगड़म अनावश्यक सामान से अपना घर भर लेता है और उसकी जलवायु को दूषित करके रोगी होता है। वह बहुत से निकृष्ट खाद्य पदार्थ अपने पेट में धर लेता है और दर्द और कष्ट से कराहता है।

वह अनाप शनाप व्यर्थ बातों का भंडार ठूँस ठूँसकर अपने मस्तिष्क में भरता है और मस्तिष्क को दूषित कर लेता है। यह मूर्ख उसे ज्ञान और विद्या समझता है यद्यपि यह सब अज्ञान और मूर्खता के रूप हैं।

ब्रह्मा ने मनुष्य से पूछा—"कहो, मनुष्य देव! तुम क्या चाहते हो?" उसने गम्भीरता से उत्तर दिया—"भगवन! जिस वस्तु का जानवरों ने त्याग कर दिया है, मैं उसे ग्रहण करने को तैयार हूँ। मुझ में यह गुण है कि जो जानवर अपना झूँठन या मल समझकर छोड़ देते हैं, मैं ही तो उनका अधिकारी होता हूँ। मेरे अतिरिक्त दूसरे को उसका अधिकार कहाँ है? मैं बछड़ों का झूँठा दूध, मक्खियों के मुँह से उगला हुआ शहद, गाय, बैल का मूत्र, आँत, ताँत, गोबर, मुर्दों की हड्डी, सींग, नाखुन, बाल व पर, अभिप्राय यह कि समस्त सड़ी गली वस्तुओं को लेकर अपने काम में लाता हूँ। ४० वर्ष की आयु होती ही क्या है? मुझे तो दुनियाँ के अनुभवों से सम्बन्ध है। जितनी अधिक आयु होती जायगी उतनी ही जानकारी बढ़ेगी। आप इन सब की आयु मुझे दे दीजिये और मैं आपका अनुग्रहीत हूंगा।"

सब जानवरों ने मनुष्य की ओर आश्चर्य से देखा। ब्रह्मा को भी आश्चर्य हुआ। वह बोले—"शोक! तेरे जीवन का उद्देश्य तो कुछ और ही था मगर तू अत्यन्त लालची और लोभी है। लालच बुरी बला है। यह जानवर तो अपनी आयु पूरी करके प्रसन्न रहेंगे, लेकिन तू सदा दुख में फँसा रहेगा। पशुओं का झूँठा खाने वाला! जा तेरा भाग्य ही ऐसा था, मैं क्या करूँ।" मनुष्य प्रसन्न होकर वापिस आया और अपनी समझ में उसने सफलता प्राप्त कर ली।

चूँकि यह स्वभाव से ही लालची था और लालची मनुष्य

दुष्ट स्वभाव, दुष्कल्पनाशील और दुष्कर्मी होते हैं, इसलिये दुष्टता का प्रारम्भ हो गया।

चालीस वर्ष तो ज्यों त्यों खुशी से कट गये। बैल के शेष बीस वर्षों में बैल ही बना हुआ यह रात दिन काम में लगा रहता है। सन्तान का तो क्या कहा जाय, तमाम दुनिया का भार अपने सिर पर रख लेता है। साठ वर्ष तक उसकी यह दशा रहती है। साठ वर्ष के पश्चात् कुत्ते के बीस वर्ष में इतना अपमानित, तुच्छ और निकम्मा रहता है कि आत्म सम्मान को तिलाँजलि दे बैठता है।

अपने संगी साथियों से लड़ना भिड़ना, काटना मारना इसका काम होता है। दूसरों की भलाई नहीं देख सकता और अपने स्वार्थ के सामान की चौकीदारी बड़ी चौकसी से करता है। केवल अपना ही भला चाहता है और अपने ही पेट की खैर मनाता है। अस्सी वर्ष तक उसकी यह दशा रहती है। फिर अस्सी वर्ष से सौ वर्ष तक वह बिल्ली के बीस वर्ष का अधिकारी होकर भीगी बिल्ली बन जाता है। दया के योग्य, डरपोक, कायर! और छल कपट उसके व्यवहार में आ जाता है। चालाकी और चतुराई की सूझती है। जो काम करता है वह चालाकी और कपट से भरा होता है। फिर १२० वर्ष तक उल्लू की तरह आँख का अन्धा बना हुआ अंधेरे में शिकार मारता है और शेष बीस वर्ष जो बन्दर की आयु के हैं उनमें पोपला होकर मुँह बनाता है। कमर टेढ़ी हो जाती है और चार पाँव से चलता है। १४० वर्ष तक उसकी यह दशा रहती है और तब निराश्रयता और पराधीनता की मृत्यु मरता है।

यह सब बातें मनुष्य की सन्तति में अब तक मौजूद हैं। ऐसे आदमी को क्या कहा जाय? क्या वह राक्षस, हिंसक और दुनियां को लज्जित करने वाला नहीं।

"जीवन आनन्द से व्यतीत होना चाहिए नकि दुख के साथ," और जब यह दशा हो तो फिर भगवान के भरोसे और शरणागति का जीवन क्यों न धारण किया जाय।

बासठवाँ बचन

शरणागति और मौज पर निर्भर रहने की व्याख्या

जो होने को है वही होता है और वही होगा। जिस नियामक ने पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, तारागणों को उत्पन्न किया है, उसने उनकी विशेष चाल नियत की है। उसी चाल के अनुसार जड़ और चेतन सृष्टि के काम हुआ करते हैं। इसमें तनिक भी परिवर्तन नहीं होता। जो कुछ किया गया है, सोच समझ के साथ किया गया है। हाँ, अपनी अल्प बुद्धि के कारण उसे हम समझ नहीं सकते, लेकिन हमारे न समझने से उसकी दशा में अन्तर नहीं आता। इस बात का समझना कठिन है। मनुष्य इतनी आपत्तियाँ उठायेगा कि उससे जान छुड़ाना कठिन होगा। कोई कहेगा कि यदि यह दशा है तो हमारा करना धरना सब व्यर्थ है। कोई वहम करेगा कि यदि प्रारब्ध का लिखा ठीक है तो फिर पुरषार्थ क्या वस्तु है। लेकिन वास्तविक बात तो यों है कि जिसे पुरषार्थ कहा जाता है वह भी प्रारब्ध के ही अन्तरगत है।[1]

गुरु की निष्ठा को समझकर अपने आपको हर प्रकार से

(१) तुलसी मन मैदान में, तान पिछौरा सोय।
अन होनी होनी नहीं, होनी होय सो होय॥
होइ है वही जो राम रचि राखा, को करि तर्क बढ़ावे शाखा।
चाहे कीन करावे सोई, यह गति उमा जान कोइ कोई॥

उसका सेवक बना देने से स्वयं ही इस प्रकार के भाव मन में उत्पन्न हो जाते हैं जो विश्वास की परिपक्वता के साथ मौज पर आरूढ़ रहने की योग्यता प्रदान करते हैं। इस मौज पर संतुष्ट और दृढ़ रहने से हानि नहीं होती और न मनुष्य आलसी बन जाता है बल्कि उसमें धैर्य (धृति) आ जाता है और निर्भयता और निर्द्वन्दता से आने वाली परस्थितियों को सहन करने के योग्य बना रहता है। उसके कारण से हृदय की व्याकुलता दूर रहती है जो स्वयं ही बहुत बड़ी कृपा की वस्तु है। यह शरणागत होने और मौज या भगवत इच्छा पर निर्भर रहने की व्याख्या है।

तिरसठवाँ बचन

निष्ठा

निष्ठा कहते हैं इष्ट पर दृढ़ता या विश्वास के साथ स्थित हो रहना। हिन्दुओं में एक दो नहीं अनेक प्रकार की निष्ठायें हैं। ध्यान की निष्ठा है। निष्ठा से विशेष प्रकार का दृष्टिकोण बन जाता है। यह दृष्टिकोण वैसे ही दृश्य सामने लाता रहता है जिसका हृदय में पक्का ध्यान और दृढ़ विश्वास है।

लड़की पति के घर विवाह होकर आती है। वह पति और पति की निष्ठा को हृदय में धारण करती है। पति को उसने प्रेम का केन्द्र बना लिया। उस पर सबसे अधिक प्रेम रखती है और उसे पति के ऊपर विशेष प्रकार का सत्व प्राप्त हो जाता है। वह पतिव्रत धर्म पर दृढ़ होकर स्वयं ही तपस्या की मूर्त्ति बन

जाती है और आनन्द और शान्ति की अधिकारिणी होती है। यह पति की निष्ठा धारण करने का एक ढंग है। असली प्रेम तो उसे पति से ही है मगर इसका यह अर्थ नहीं है कि वह दूसरे घर वालों से घृणा करे। जिसने प्रेम का दृढ़ केन्द्र अपने हृदय में बना लिया घृणा उससे कोसों दूर रहती है। प्रेम तो वह पति से ही करती है परन्तु पति के प्रेम के सम्बन्ध से घर के अन्य पुरुष स्त्री भी उसके प्रेम का लाभ उठाते हैं। पति का प्रेम तो वृक्ष की जड़ है दूसरों का प्रेम शाखायें, टहनी और पत्ते हैं। जड़ को पानी देने से सबको पानी पहुँचता है। पत्ते-पत्ते के सींचने से यह परिणाम नहीं होता। यदि कोई स्त्री विवाह के पश्चात् घर के सब लोगों से तो प्रेम करे मगर पति की ओर से बेपरवाह रहे तो उसे प्रेम का आनन्द नहीं मिलता। हृदय में दुविधा द्वचिताई बनी रहती है, लेकिन जो केवल अपने पति को प्यार करने वाली स्त्री कुरूप मैली कुचैली और कुढंगी भी हो फिर भी उसका स्थान अन्य स्त्रियों से ऊंचा रहता है और शान्ति की मूर्त्ति बनी रहती है। ऐसी स्त्री के देह पर चाहे फटे पुराने चिथड़े ही लिपटे हों फिर भी पतिव्रत धर्म उसे इस प्रकार की विशेष सुन्दरता प्रदान करता है जो अन्य स्त्रियों के हिस्से में नहीं आती। इस प्रकृति की स्त्री भूलकर भी अपने पति की बुराई नहीं करती और पति को देख देख कर मन में मग्न बनी रहती है।

इसके विपरीत अन्य स्त्री को देखो। उसने पति के सच्चे भाव को मन में स्थान नहीं दिया। पति को उसने साधारण मनुष्य समझ लिया और अन्यों से प्रेम किया। सम्भव है कि वह अच्छे घर में रहती हो, सुन्दर हो, सिर से पाँव तक आभूषणों से लदी हो परन्तु वह पति के सुख से वंचित रहती है। हृदय में शान्ति क्षण मात्र को भी नहीं आती। लाख

आदमी उसकी सुन्दरता, आभूषणों, और वस्त्रों की प्रशंसा करें मगर क्या किसी के हृदय में उसके मान सम्मान को स्थान मिलता है ! वह शारीरिक और मानसिक दृष्टि से सुन्दर चित्र की तरह है परन्तु अध्यात्म से वह सर्वथा वंचित है।

केवल इन्द्रिय लोलुप पुरुष ही उसकी ओर आकर्षित होते हैं। वह बिगड़ते बिगड़ते इतनी बिगड़ जाती है कि किसी एक पुरुष के हृदय में उसके लिये स्थान नहीं रहता। वह स्वयं इस बात को जानती है। घर की पति व्रता स्त्री से ईर्ष्या भी करती है; किन्तु यह धन मान और सौन्दर्य रखती हुई इस योग्य भी नहीं है कि वह पति व्रता स्त्री के पाँव को हाथ लगा सके। उसको जीवन भर शान्ति प्राप्त नहीं होती और अन्त में कुत्ते की मृत्यु मरती है।

यह पतिव्रता की निष्ठा है। निष्ठा सन्तोष, मौज और शरणागति का पन्थ है। इसी प्रकार और भी अगणित निष्ठायें हैं। गुरु को गुरु की दृष्टि से मन का अर्पण करना निष्ठा है। जो गुण पतिव्रता सती स्त्री में होता है वही साधु, सन्त और सूरमा में रहता है। साधु, सती और सूरमा तीनों हो एक विचार-धारा और एक ही श्रद्धा के मनुष्य हैं। यद्यपि इनकी सूरतें अलग अलग हैं।

कबीर साहब की वाणी है—

साध सती और सूरमा, इनका मता अगाध।
आसा छोड़ें देह की, तिन में अधिका साध॥
सूरे के तो सिर नहीं, दाता के धन नाहिं।
पतिव्रता के तन नहीं, सुरत बसे पिउ माहिं॥
सूरे के तो कोटि सिर, दाता के धन बीस।
पति व्रता के तन सभी, पति राखें जगदीश॥

चौंसठवाँ बचन

एक की भक्ति

इसी निष्ठा का नाम एक की भक्ति है। एक की भक्ति में प्रारम्भ से एक की पूजा रहती है और अन्त तक वह इसी एक के आधार पर स्थित रहती है। एक का पुजारी दो तीन चार का पुजारी नहीं होता। एक की भक्ति ही पतिव्रता का ऐश्वर्य है और दो चार की भक्ति व्यभिचारिणी का लक्षण है। एक को एक मान लेना एक की भक्ति है।

एक को छोड़कर दूसरे से सम्बन्ध पैदा करना व्यभिचार है। इसी कारण से इस योगसाधन के प्रारम्भ में कह दिया गया है कि—"गुरु कीजिये जान और पानी पीजिये छान", ताकि फिर उसे दुबारा किसी और से अध्यात्म के संस्कार ग्रहण करने की आवश्यकता न रहे।

जो कुछ करना धरना हो प्रारम्भ में ही सोच समझ कर करो वर्ना दुबारा यदि किसी से सम्बन्ध पैदा करते हो तो लांछित हो जाओगे।

जो स्त्री किसी एक पुरुष को छोड़कर दूसरे से सम्बन्ध जोड़ती है, वह व्यभिचारिणी हो जाती है। सती नहीं हो सकती और न पतिव्रत धर्म में सच्ची उतरती है। जो गुरु में निष्ठा रखने वाला है वह अपने एकत्व स्थिति के संस्कार को भ्रष्ट कर लेता है। वह सम्भव है कुछ अध्यात्मिक उन्नति कर जाय लेकिन उसे गुरु मुख कहना अनुचित होगा। गुरु मुख तो वह है जिसने गुरु को मुख्य करके जान लिया। मुख्य तो एक ही होता है। दूसरे मालिक के पास जाने से उसके प्राण निछावर करने के महत्व में धब्बा आता है।

"जिसका पल्ला पकड़ा, उसका पकड़ा अर्थात् जिसकी शरण एक बार ले ली, उसी में रहना चाहिए। दूसरे का पल्ला क्यों पकड़ा जाय।"

यह सच्ची और खरी बातें हैं जो हृदय को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकतीं।

पतिव्रता का पति मर गया। वह उसी के नाम पर सती हो जाती है। दूसरे से सम्बन्ध नहीं जोड़ती। साधु का गुरु चोला छोड़ देता है। वह भी कमाई करता हुआ गुरु में लीन रहता है। पति या गुरु देह को नहीं कहते। यह आदर्श और आइडियल हैं, जिनका केवल एक ज़ात खास (विशेष व्यक्ति) के आसरे अनुसरण किया जाता है। मन तो एक है। उसमें जिसका ध्यान बँध गया, बँध गया। अब एक के ध्यान को निकालकर दूसरे का ध्यान उसमें किस प्रकार भरा जा सकेगा? क्या दो के ध्यान से दुचिताई न आयेगी और मनुष्य दुविधा का शिकार न होगा? संस्कार और प्रभावों को वह कहाँ ले जायगा? यह तो हृदय में स्थान पा गये।

सिंह गमन, सतपुरुष बचन, कदली फले यक बार।
त्रिया तेल हमीर हठ, चढ़े न दूजी बार॥

अर्थ—शेर की चाल एक सी होती है। सच्चे पुरुषों के बचन में एकता रहती है। केले के वृक्ष में एक ही बार फल आते हैं। ऊँचे कुल की स्त्री एक ही बार ब्याही जाती है। राणा हमीर का हठ एक ही तरह स्थिर रहता है। इनमें से किसी एक में परिवर्तन नहीं होता।

उच्च विचार वाला गुरु में निष्ठा रखने वाला बार बार गुरु को नहीं बदलता। यह तो उनका काम है जिनमें गम्भीरता नहीं होती और एक इष्ट पर स्थाई नहीं रहते।

हां, यदि गुरु झूँठा, मक्कार और अध्यात्मिक गुणों से रहित है, तब तो उसके त्यागने ही में भलाई है क्योंकि गुरु होने के गुण न होने के कारण से अभी तक सच्चे अर्थों में गुरु धारण भी नहीं किया गया। यदि किसी सच्चे को गुरु धारण कर लिया तो उसका त्याग करना क्या है! और हो कैसे सकता है! वह तो तमाम हृदय और मस्तिष्क में प्रवेश कर गया है। उसके ध्यान और प्रभाव को कहाँ कहाँ से हटाया जायगा। क्या जीवन इसी काम के लिये ही दिया गया है। उलट फेर करने से क्या लाभ होगा!

झूँठे गुरु की पक्ष को, तजत न कीजे बार।
द्वार न पावे शब्द का, भटके बारम्बार॥
साँचे गुरु की पक्ष में, मन को दे ठहराय।
चंचल से निश्चल भया, कहुँ नहिं आवे जाय॥

पैंसठवां बचन

एक गुरु

गुरु एक होता है। मालिक एक होता है। एक चेला दो गुरु की भक्ति नहीं कर सकता और न एक नौकर दो मालिकों की सेवा कर सकता है। यहाँ जो है वह एक ही एक है। जिसका सम्बन्ध एक से है, वह आनन्द में रहता है और जिसका सम्बन्ध दो से है उसकी दशा भिन्न रहती है। यह जीवन के व्यवहार के अनुभव की बातें हैं। यदि ये बातें इस लोक और दुनियावी मामलों में इतनी सच्ची हैं तो परलोक और धार्मिक व्यवहार में भी सच्ची हैं। इष्ट जब होगा एक ही होगा। दो इष्ट कभी नहीं होने चाहियें अन्यथा वह इष्ट नहीं कहलायेंगे।

तुम संतों के सतसंग का लाभ उठाओ। जहाँ कहीं अच्छी बातें मिल सकें उनको सीखो, जानकारी को बढ़ाओ। लेकिन यह सब काम एक गुरु के ध्यान के आधीन किये जायँ, तब तो उनका लाभ होगा अन्यथा वह दुचिताई और बेचैनी उत्पन्न करेंगे और लाभ के बजाय हानि होगी।

छयासठवां वचन

समय का सन्त सतगुरु

आदेश है कि जब सन्त सतगुरु प्रगट हों उनका सहारा लेने में चूकना न चाहिए और समय के सन्त सतगुरु की सहायता अवश्य प्राप्त कर लेनी चाहिए। यह अध्यात्म के प्राप्त करने का सच्चा मार्ग है। लेकिन ऐसे लोग दुनियाँ में बहुत कम हैं जो समय के सन्त सतगुरु के अभिप्राय को समझते हों वर्ना अधिकतर आदमी भेंड़ धसान चाल से चलते हुए इधर के मारे उधर भटकते हैं।

समय के सन्त सतगुरु का प्राकट्य दुनिया में विशेष विशेष अवसरों पर होता है। जब पृथ्वी और आकाश वर्षों घूमते हैं और जब जब अध्यात्मिक व्यवहार को हानि पहुँचने का भय रहता है, तब तब यह प्रकट होकर उसका सुधार कर देते हैं। विष्णु का अवतार प्रति दिन नहीं होता। बुद्ध प्रति दिन प्रगट नहीं होते और न तीर्थंकर सर्वदा प्रकट होते हैं। इसी प्रकार सन्त सतगुरु के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

यह बहुत बड़ी आवश्यकता के समय आते हैं और उनका आना प्राकृतिक नियम के अनुसार होता है। इनमें विलक्षणता

होती है। यह विचित्र पुरुष होते हैं और इनमें से हर एक किसी न किसी प्रबल शक्ति का अवतार कहलाता है।

अवतार कहते हैं उतरने को। जिस समय यह ब्रह्माण्ड अपने सब सूर्य्यादि ग्रहों और तारागणों सहित किसी विशेष ऊँचे रूहानी (अध्यात्मिक) सूर्य्य के सन्मुख आता है तब उस ऊँचे दर्जे के सूर्य का भारी प्रभाव किसी (पार्थविक) शरीर के अन्दर प्रवेश करके समय पर उस दुनिया में उत्पन्न होता है। उसकी चाल सबसे निराली होती है। उसका स्वभाव विचित्र ढंग पर असाधारण दिखाई देता है। वह अन्य साधारण मनुष्यों की तरह नहीं होता, यद्यपि उसकी आकृति (रूप रंग) मनुष्यों ही की सी होती है। बुद्धि, शक्ति, वीरता आदि की दृष्टि से भी प्रायः लोग इस दुनिया में ऐसे प्रगट होते हैं जो केवल बाह्य आकृति में मिलते जुलते हैं लेकिन उनकी बुद्धि, योग्यता, वीरता पूर्णरूपेण विशेष ढंग की होती है।

इसकी व्याख्या होना आवश्यक है क्योंकि जब तक यह विषय स्पष्ट न कर दिया जायगा तब तक सचाई का समझ में आना कठिन है।

पृथ्वी चक्कर करती है। चक्कर करते करते जब यह ब्रह्माण्ड के बृहस्पति मंडल के सम्मुख आ जाती है तब वृहस्पति की छाया और प्रभाव का प्राणी पृथ्वी पर जन्म लेता है। वह पूर्ण बुद्धिमान और पूर्ण दानी होता है और दुनिया में अद्वितीय होता है। यह वृहस्पति का अवतार है। जब पृथ्वी मंगल के सम्मुख आती है, तब इसी नियम के आधीन किसी प्रबल शक्तिवान का जन्म होता है और वह बड़ा प्रयत्नशील और बलवान होता है। यह मंगल का अवतार है। जब पृथ्वी शुक्र के सामने आती है तब वीर्य्य वाले महान पुरुष का जन्म होता है और वह शुक्र का अवतार कहलाता है और इसी प्रकार

समझ लो। यह इसी पृथ्वी के ब्रह्माण्ड के तारागणों की बात-चीत है। चन्द्र ग्रहण अथवा सूर्य ग्रहण के समय हिन्दू अपने घर की स्त्रियों को चौकन्ना कर देते हैं कि ग्रहण के समय सावधान होकर रहें। मालिक के नाम का सुमिरन करें। ऐसा न हो कि ग्रहण के दूषित प्रभाव का बच्चा उत्पन्न हो जाय। यदि सावधानी नहीं की जाती तो प्रायः होठ कटे बच्चे पैदा हो जाते हैं। यह साधारण और प्रसिद्ध बात है और अपनी विशेषता की दृष्टि से किसी अंश तक शिक्षाप्रद है।

जिस प्रकार इस सूर्य मंडल के तारे जन्म लेने वाले जीवों पर प्रभाव डाल कर कभी कभी विचित्र प्राणियों को पैदा करते हैं, उसी प्रकार जब चक्कर करने वाली पृथ्वी के सम्मुख दूसरे ब्रह्माण्ड आ जाते हैं तो उन जैसे प्राणी पृथ्वी पर पैदा हो जाते हैं।

मूर्ख लोग इसको प्रकृति की भूल चूक समझते हैं यद्यपि इसमें विशेष प्रकार के तारागणों की सूरतों की छाया और प्रभाव रहता है। किसी के यहाँ कई सिर वाले बच्चे पैदा हो जाते हैं जो वास्तव में विराट पुरुष की प्रतिबिम्बित दशा का परिणाम है। विराट पुरुष स्वयं एक सूर्य है जो सहस्रों सिर वाला, सहस्रों नेत्र वाला कहा जाता है और इसी प्रकार जो जुड़े हुये लड़का लड़की की शक्ल वाले बच्चे उत्पन्न हो जाते हैं तो वह भी जुड़े हुये तारागणों के कारण से हैं जो जुड़े हुये कहलाते हैं। और इसी प्रकार समझ लो।

सूर्य एक ही तो नहीं है। अगणित सूर्य हैं। वह अपने प्रभाव से कभी कभी विचित्र सामान के प्राकट्य में आने का कारण होते हैं। इनके रहस्य का भेद हिन्दू स्त्रियों के रस्मी बर्ताव में छुपा रहता है, जिसे सुन कर सोच विचार और समझ लेना चाहिये। इस पर अधिक क्यों लिखा जाय।

कभी कभी पहाड़ों के बर्फीले मंडल में बर्फ के नीचे ऐसे विचित्र सृष्टि के जीवों की ठठरियाँ पाई जाती हैं जो दुनियाँ के जीवों की सूरतों से भिन्न होती हैं। विद्वान लोग या तो उन्हें प्रकृति की गलती का परिणाम बताते हैं या यह कहते हैं कि इस नस्ल के प्राणी दुनियाँ में पहिले मौजूद थे। अब इसकी नस्ल नष्ट हो गई। यह बात नहीं है, किन्तु वास्तव में उसके पर्दे में वह सिद्धान्त छुपा हुआ है जिस पर हम ने ऊपर की पंक्तियों में कुछ अंश में प्रकाश डाला है।

यह सूर्य एक है। इससे ऊँचा विराट पुरुष स्वयं दूसरा सूर्य है जो सृष्टि का उत्पन्न करने वाला कहलाता है और ईश्वर का स्थूल रूप है और जिसकी वेद और उपनिषदों में स्तुति गाई गई है। इसके अतिरिक्त तीसरा सूर्य और है जो ब्रह्म कहलाता है और उसका नाम अव्याकृत है। चौथा सूर्य हिरण्यगर्भ है जो इससे भी ऊँचा है और सुवर्ण के अंडे की शक्ल में चमकता रहता है और इसी प्रकार समझ लो।

जो पुरुष विशेष प्रकार का विवेक लेकर ब्रह्म से उत्पन्न होता है वह ब्रह्म का अवतार कहलाता है। जो विष्णु से पैदा होता है वह विष्णु का और जो शिव से पैदा होता है शिव का और जो ब्रह्मा का विशेष प्रतिबिम्ब और प्रभाव लेकर उत्पन्न होता है वह ब्रह्मा का अवतार कहलाता है। उसके व्यवहार बिल्कुल उसी प्रकार के होते हैं जैसे उसके असल के होते हैं। यह अवतार की फिलोसफी है। दुनियावी व्यवहार की दृष्टि से विष्णु के अवतार की सबसे अधिक विशेषता है क्योंकि पालन पोषण के नियमों में दत्तचित्त होकर वह रोचक और भयानक कार्यों से धर्म का सुधार करता है। दूसरे अवतारों को लोगों ने उतना महत्व नहीं दिया। ठीक इसी प्रकार शक्तियों के भी अवतार हुआ करते हैं। शक्ति को लेकर जो स्त्रियाँ प्रगट होती

हैं, वह उन्हीं का अवतार कहलाने का अधिकार रखती हैं।

साधारणतया जो सन्तान होती हैं वह मनुष्यों या पशुओं के जोड़ों की सन्तान होती हैं। विशेष विशेष नक्षत्रों का प्रभाव तो उनमें भी होता है मगर साधारणतया उनको महत्व नहीं दिया जाता और न किसी विशेष महत्व के पात्र होते हैं। महत्व तो उन्हीं को दिया जाता है जिनमें कोई विशेषता होती है।

अवतार का सिद्धान्त गलत नहीं है। हाँ, इसका रहस्य समझ में न आवे यह दूसरी बात है। इस पर सोच विचार करने वाले और सोच विचार कर उसका परिणाम निकालने वाले मनुष्य थोड़े होते हैं।

यहाँ एक बात और रही जाती है। उसके विषय में यहाँ कुछ न कुछ कह देना चाहिए। वह यह है कि जब इस पृथ्वी पर भाँति भांति की आपत्तियाँ और तरह तरह की विपत्तियां आने लगती हैं, मानवीय भावनाओं की सामुहिक धार आकाश मण्डल पर चढ़कर पृथ्वी के अनुकूल चक्र के समय किसी विशेष केन्द्र को छूती हैं तब समय की आवश्यकता और मसलहत के अनुसार उन्हीं भावनाओं की धार के सहारे जो व्यक्ति यहाँ खिंचकर आ जाता है, अवतार कहलाता है और चूँकि उस विशेष समय के मनुष्यों के साहस, अभिलाषाओं और इच्छाओं के सब सामान उस अवतारी पुरुष की गति, स्थिति, व्यवहार और स्वभाव में विद्यमान होते हैं, यह मानव उस पुरुष के स्वरूप में अपने मानसिक इष्टों की ज्यों की त्यों सूरत देखकर स्वयं समानता और समता के नियमानुसार उसको अपने आकर्षण और प्रेम का केन्द्र बना लेते हैं। फिर दुनिया में एक विशेष प्रकार का परिवर्तन हो जाता है। तब वह

सुधार और उन्नति का काम करके यहाँ से कूच कर जाता है। अवतारों की पूजा की जड़ इस सिद्धान्त में है।

बहुत से शास्त्रकारों का यह अनुभव है कि अवतारों का शरीर स्थूल पंच महा भौतिक नहीं होता। यह सच भी है।

लेकिन शरीर की बनावट तो स्थूल भूतों से ही होती है। हाँ, यह अन्तर है कि उसका शरीर मनुष्यों के सूक्ष्म मानसिक तत्व से बनता है। जो सामुहिक रूप से इनके हृदयों से निकल कर ऊपर के मंडलों के विशेष शक्ति वाले केन्द्र को छूकर उस उच्च मंडल के प्राणियों को यहाँ से प्रगट होने का अवसर देते हैं। इस दृष्टि से उसका शरीर साधारण माद्दे का नहीं कहलाता।

यह सब ध्यान देने और सोच विचार करने के विषय हैं। यों ही छोड़ देने योग्य नहीं हैं।

जिस प्रकार विष्णु का अवतार होता है उसी तरह दुनियाँ में संतों का भी अवतार है। नियम एक है। सिद्धान्त भी एक ही है। विष्णु के अवतार साधारणतया ब्रह्म के अवतार कहलाते हैं। संत सत्पुरुष के अवतार हैं जो अध्यात्म के भंडार और स्रोत हैं। वह भी एक सूर्य है मगर सबसे बड़ा सूर्य है। योगियों ने उसे सत्यम् कहा है जो गायत्री के प्राणायाम मन्त्र का अन्तिम इष्ट पद है।

ओ३म् भू, ओ३म् भुवः ओ३म् स्वः
ओ३म् महः ओ३म् जनः ओ३म् तपः
ओ३म् सत्यम्

लेकिन इस मन्त्र के अर्थ में और राधास्वामी योग की शिक्षा में अन्तर है। यह सत्यम् नीचे के लोक का है। संतों का सत्तनाम् और सत पद इससे ऊँचा है। इसकी समझ उस समय

तक आना कठिन है जब तक अच्छी तरह अभ्यास के साथ सतसंग न किया जाय। यों समझाने को तो हम अपने शब्दों के सिलसिले में इसे बार बार समझा भी चुके हैं। कोई रूहानी मंडल ऐसा नहीं है जिसमें इन सातों स्थानों का प्रतिबिम्ब या आभास न हो। एक ही स्थान में इन सातों लोकों की छाया रहती है।

इसी तरह दुनिया में संतों का प्राकट्य हुआ करता है। जब पृथ्वी अपने सूर्य मंडल के साथ चक्कर खाती हुई सतपद वाले सूर्य के सम्मुख आती है, सत नाम की धार को लिये हुए जो विचित्र व्यक्ति पैदा होता है उसीका नाम संत सतगुरु है बशर्ते कि वह अध्यात्मिक शिक्षा का क्रम चालू करे अन्यथा वह सन्त तो अवश्य है किन्तु सन्त सतगुरु नहीं हैं।

समय के संत सतगुरु से यह अभिप्राय है। वह हर समय नहीं रहते और अवतारों की तरह समय समय पर प्रगट होते हैं। बीच बीच में अवकाश भी पड़ता रहता है।

सरसठवाँ बचन

समय के संत सतगुरुओं में से दो एक का संक्षिप्त संकेत

ऐसे समय के सन्त सतगुरु एक परम सन्त कबीर साहब थे जो बनारस में पैदा हुए थे। वह मनुष्य क्या थे, मनुष्य के रूप में सचाई और अध्यात्म (रूहानियत) की मूर्ति थे। जिस तरह उन्होंने दुनिया को चिताया, आपत्ति के समय सच्ची शान्ति का रास्ता दिखाया, वह छिपी हुई बात नहीं है। लेकिन जातीय, धार्मिक और सामाजिक पक्षपात के कारण लोग उनकी शिक्षा के प्रति कम श्रद्धा रखते हैं, अन्यथा उनकी एक पुस्तक

'बीजक' को ध्यान पूर्वक अध्ययन किया जाय तो सूक्ष्म विचार की दृष्टि से वह धार्मिक पुस्तकों के पुस्तकालय में अद्वितीय ग्रन्थ कहलाने की अधिकारी है। इस एक पुस्तक में हर प्रकार के धार्मिक विचार पूरी व्याख्या के साथ आ गये हैं और उन्होंने अपने रूहानियत के भाव प्रगट किये हैं जिनका वर्णन किसी अध्यात्मिक शिक्षक के कथन में नहीं है। हिन्दू किसी अंश तक इस बात को मानते भी हैं लेकिन बीजक का अध्ययन नहीं करते और अध्यात्मिक लाभ से वंचित रहते हैं।

मानसरामायण के चिरजीव आदरणीय अद्वितीय रचयिता गोस्वामी तुलसीदास जी की साक्षी है:—

सार वस्तु सब कबीर कहा।
शेष रहा सो सूर लहा॥
और कवियों ने फुटकल कहा।
तुलसी राम नाम पद गहा॥

यह पक्षपात रहित और न्यायपूर्ण निर्णय है।

कबीर साहब के पश्चात् पूर्णधनी सत् पुरुष राधास्वामी का प्राकट्य हुआ जिन्होंने पाँच ही वर्ष की आयु में अपने माता पिता को सचाई (सतमार्ग) की शिक्षा दी। उनके माता पिता नानक पंथी और परम गुरु नानक साहब के अनुयायी थे। उनको जप की असलियत समझाई और गुरु नानक साहब के बनाये हुये मगर भूले हुये सुरत शब्द योग के साधन और अभ्यास का ढंग बताया। स्वामी जी की वाणी महा अनुभवी होती थी। उसी समय एक महात्मा तुलसी साहब ने जो हाथरस में रहते थे और जब तब इनके घर आया करते थे इनकी माता के सामने यह भविष्य वाणी की थी कि—"माई! तेरे घर यह बालक परम पुरुष का जहूर (प्राकट्य) हुआ है।" सत-पुरुष राधास्वामी साहब की शिक्षा का प्रचार दुनिया में हुजूर

महाराज राय सालिगराम साहब ने किया है जो उनकी रची हुई १८-१६ पुस्तकों में मौजूद हैं।

यह समय के संत सत् गुरु थे। जो बात कही है अकाट्य कही है और अगणित आदमियों को उनसे लाभ पहुंचा है।

संत मत अब तक केवल शब्द और वाणियों के रूप में वर्णन किया जाता था। लोग शब्द गा लेते थे, बाणी पढ़ लेते थे लेकिन वास्तविक अर्थ से जानकारी नहीं होती थी। संतो के कथन को साधारण भजन समझते थे। अंतरीय रहस्य पर पर्दा पड़ा हुआ था। उसकी व्याख्या और स्पष्टीकरण का कहीं भी प्रबन्ध नहीं था। कबीर साहब और नानक साहब के घराने के अनुयायी भी उनको ज्यों का त्यों नहीं समझते थे। और सुरत शब्द योग के साधन व अभ्यास से तो यह बिल्कुल ही अनभिज्ञ थे।

हुजूर महाराज ने दया करके सत्पद की शिक्षा स्पष्ट शब्दों में दी और संत मत के रहस्य को जन साधारण को खोलकर समझा दिया।

संतमत दुनिया का सर्व व्यापक मार्ग (आलमगीर तरीक) है मगर पंथाइयों ने अपनी अज्ञानता और अनसमझी से उसे सामाजिक सम्प्रदाय बना रक्खा था। सत् पुरुष राधास्वामी की दया से अब जाकर उसकी समझ हर एक को आने लगी है। यह तो समय के संत सत्गुरु हैं जो जन्म से ही शिक्षा देते हैं दूसरे वह भी ऐसे ही माने जाते हैं जिन्होंने अंतरीय कमाई करके अध्यात्म की ऊंची श्रेणी प्राप्त कर ली है।

राधास्वामी साहब ने जीवों को कबीर साहब और नानक साहब और दूसरे महात्माओं की बाणियों का हवाला देकर अपनी ओर आकर्षित किया, जैसा कि सार बचन राधास्वामी में उल्लेख आते हैं।

आपने एक जगह कहा है:—

संतन का मत सबसे ऊंचा। जो परखे सोई धुर पहुँचा॥
पहुँचे की क्या करूँ बड़ाई। सब मत उसके नीचे आई॥
जो मन में परतीत न देखे। तो कबीर गुरु बाणी पेखे॥
तुलसी साहब का मत जोई। पलटू जग जीवन कहें सोई॥
इन सन्तन का देऊं परमाना। इनकी बाणी साख बखाना॥
जोग ज्ञान मत इन हूँ भाखा। पुनि संतन मत ऊंचा राखा॥

यह बाणी साक्षी है कि संत मत के सिद्धान्तों में कहीं भी अंतर नहीं है।

प्रत्येक पंथ और सम्प्रदाय वाले को आदेश किया गया है कि जब जब समय के सन्त सतगुरु प्रगट हों इनसे लाभ उठाना चाहिये। और पक्षपात को छोड़ देना चाहिये क्योंकि ज्ञान की असली कमाई समय के सन्त सतगुरु की संगत से प्राप्त होती है। कोई व्यक्ति यदि सामाजिक सम्प्रदाय के भ्रम में धोखा खाकर टेकी बन जाता है तो उसकी कमाई में त्रुटि रह जाती है। ज्यों का त्यों लाभ नहीं होता। और उपासना मार्ग का जो लाभ है वह उसे नहीं मिलता।

अड़सठवाँ बचन

छयासठवें बचन के प्रतिबिम्बित स्थानों का संकेत

छयासठवें बचन में संकेत रूप में प्रत्येक स्थान के अक्सों का एक एक विशेष स्थान पर वर्णन किया गया है। उसके समर्थन में यहाँ सार बचन राधास्वामी गद्य का हवाला दिया गया है:—

"सबब इसका यह है कि मालिके कुल ने अपनी कुदरत से हर एक स्थान को बतौर अक्स यानी छाया निज स्थान के रचा है। और

थोड़ी बहुत वही कैफियत और हालत कि जो ऊँचे स्थान पर है कुछ कुछ उसी किस्म की हालत और कैफियत नीचे के स्थानों पर भी पाई जाती है। पर हर एक स्थान की कैफियत और हालत और उसके क़याम यानी ठहराव में बड़ा फ़र्क है। और जो रचना हर स्थान पर देखने में आती है वह भी न्यारी न्यारी है। और दर्जा बदर्जा लतीफ यानी सूक्ष्म और विशेष सूक्ष्म और अति सूक्ष्म और पाक यानी निर्मल और विशेष निर्मल और महा निर्मल होती चली गई है। मगर यह हाल उसको मालूम हो सकता है जिसने सब स्थानों की सैर की है। और नहीं तो जिस स्थान पर जो पहुँचा उसने उसी स्थान के मालिक के स्वरूप और प्रकाश को देखकर उसी को बेअन्त और बेहद और खुदा और परमेश्वर बतलाया। और इस कदर आनन्द और सरूर उसको हासिल हुआ कि होश और हवास उसके सब जाते रहे। और ऐसी हालत मस्ती और शौक की पैदा हुई कि जिसका बयान नहीं हो सकता।"

यह शब्द अत्यन्त सार्थक हैं। आगे चलकर इन पर अधिक प्रकाश डाला जायगा। यहाँ इतना मिलान के रूप में समझ सकते हो कि मनुष्य में स्वयं ईश्वर के और ब्रह्म के गुण अंश मात्र में हैं लेकिन वर्तमान दशा में वह ईश्वर या ब्रह्म नहीं कहा जाता। ऐसे मनुष्य के शरीर में अर्थात् पिंड में अंश रूप में ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों की (कैफियत) मौजूद है लेकिन पिंड को ब्रह्माण्ड तो नहीं कहा जाता।

उनहत्तरवाँ बचन

विष्णु के अवतार और सत्पुरुष के अवतारों में अन्तर

अवतार तो अवतार ही हैं। जो प्रबल धार सत के समुद्र से आती है वह अवतार ही है। लेकिन उनके गुणों में अन्तर होता है।

विष्णु का अवतार इस जगत में मर्यादा स्थापित करने के लिये आता है क्योंकि विष्णु इसका पालक और पोषक है। इस कारण इसमें विष्णु के समस्त गुण घटा बढ़ी के साथ मौजूद रहते हैं। यह अवतार विभिन्न ढंगों में काम करते हैं। जहां मारधाड़ की आवश्यकता होती है वहाँ वह उससे नहीं चूकते। दुष्टों को बुरे से बुरा दण्ड देते हैं। जहां कुशलता और सहूलियत से काम निकलता है वहाँ उसी प्रकार का व्यवहार किया जाता है।

लेकिन संतों का अवतार केवल दया और प्रेम का अवतार है। इनके यहां अत्यन्त परिश्रम, प्रयत्न और कठोरता नहीं होती। दया और प्रेम सर्वव्यापक तत्व है जहाँ समता और एकत्व होता है। इस कारण वह केवल ख्याल दिलाकर आदमी को उच्च विचार वाला बना देते हैं और उच्च स्थानों का पता देकर सुरत शब्द योग का साधन सिखाकर आदर्श या इष्ट पद तक पहुँचा देते हैं।

यह इन दोनों अवतारों में अन्तर है।

विष्णु का अवतार संसार के प्रचलित मार्ग में सुधार करता है और वह वेद आदि ईश्वर कृत ग्रन्थों की मर्यादा को स्थापित रखकर काम करता है। सन्त मत किसी ऐसे ग्रन्थ की बाणी की आवश्यकता नहीं समझता; किन्तु देह रूप ग्रन्थ का अध्ययन करते हुए उच्च दृष्टि प्रदान करता है। सन्त का अवतार केवल पर हित के कर्तव्य कर्म करता है।

दुनिया के समस्त सम्प्रदाय, चाहे वह कोई हों, वेद और पुराणों ही की नकली सूरतें हैं। इसलिये भिन्नता लिये हुए उनमें सबसे प्राचीन हिन्दू धर्म के चिह्न और वर्णन मौजूद हैं। थोड़ा सा रूप बदला हुआ है। जो अवतार को स्पष्ट शब्दों में नहीं मानते वह वली और नबी को मानते हैं।

नबी, रसूल को या भेजे हुए पैग़म्बर को कहते हैं। इनको चाहे भेजा हुआ कहो या उतरा हुआ कहो, बात तो एक ही है। केवल शब्दों का अन्तर है; किन्तु यह भी नितान्त आवश्यक नहीं है कि सब अवतार रक्तपात से काम लें। हमारे यहाँ विष्णु के दसवें अवतार बुद्ध भगवान ने दया का प्रचार किया। यह विष्णु के करुणा के साक्षात् रूप थे। आदि आदि।

इन धर्मों में नबी, रसूल और पैगम्बर के एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में धर्म ग्रन्थ होता है और वह धर्म ग्रन्थ के अनुयाथी बने हुए प्रचलित नियमों का सुधार करते हैं और बस! लेकिन वली (संत) इससे भिन्न होते हैं। वह जबरदस्ती के नियम और धर्म मानने वाले नहीं होते। सहूलियत, प्रेम और परहित के सिद्धान्त पर चलते हैं। यह एक तरह के सन्त ही समझे जाते हैं। संत और फकीर में भेद नहीं माना जाता।

सार वचन राधास्वामी की बाणी है:—

"संत फकीर यों जुगल पद, दोऊ एक अखंड।"

विष्णु के अवतार और संतों के अवतार का पता दूसरे धर्मों के नबी और वली की हैसियत में इस तरह पाया जाता है।

अवतार न मानने वाले लोगों को आखिर घूम फिरकर अवतार पूजा की ओर आना पड़ा। यहूदियां के महान् धार्मिक शिक्षक हजरत मसीह को अपने आप को ईश्वर का अवतार मानना ही पड़ा। यह हिन्दू धर्म की शिक्षा थी। और बाद के मुसलमानों ने यद्यपि मसीह को ईश्वर का अवतार नहीं माना लेकिन उनको भी मसीह के लिये रूहे अल्लाह (ईश्वर की आत्मा) और इब्ने अल्लाह (ईश्वर का बेटा) के शब्द प्रयोग करने पड़े। मसीह भी बुद्ध की तरह दया की मूर्ति थे।

सत्तरवाँ बचन

समय के संत सतगुरु की महिमा

जो दिन बीत गया वह बीत गया। जो समय चला गया अपनी विशेषताओं को भी साथ ले गया। जो समय मिला है उसको सन्तोषप्रद समझकर काम करना चाहिए। गया समय फिर हाथ आता नहीं।

पुराना वैद्य बड़ा योग्य था लेकिन अब वह कहाँ है? इस समय के रोग का इलाज इस समय के वैद्य से होगा। पिछले समय के वैद्य के केवल नाम लेने से कोई लाभ न होगा।

इसी प्रकार सन्त सतपुरुष के विषय में भी समझ लो। पुरानी टेक करने से इतना लाभ नहीं होगा। वर्तमान समय के गुरु ही की सहायता से परमार्थ की सच्ची कमाई सम्भव है। उनके सतसंग और भक्ति को सन्तोषप्रद समझो। जितना शीघ्र हो सके उनसे सम्बन्ध जोड़कर के अपना काम बनाओ। गुरु की सहायता बिना परमार्थ के मार्ग में पग न रक्खो वर्ना मन मत होने का भय रहेगा। मनमता अहंकार का मार्ग है।

समय का गुरु समय की आवश्यकता के अनुसार शिक्षा देता है। यह उसकी महिमा और महानता है। प्रत्येक समय के क्रियात्मक ढंग (मसलहत) पृथक होते हैं और उस ढंग (मसलहत) की समझ केवल उसी जमाने के बुद्धिमान और समझदार की सहायता से आती है।

जो शिक्षा तुमको प्राचीन काल में मिल चुकी है वह तुम्हारी सन्तान के लिये अनुकूल नहीं है। तुम दूसरे समय के प्राणी थे और यह दूसरे समय के प्राणी हैं। यदि इनकी शिक्षा इस समय के अनुसार होगी तो इस समय लाभदायक होगी। अन्यथा उससे इतने लाभ की आशा नहीं हो सकती है।